सूर्यकुमारी पुस्तकमाला—५

# विवेकानंद ग्रंथावली।

## ज्ञान-योग।

### दूसरा खंड।

अनुवादक—जगन्मोहन वर्म्मा।
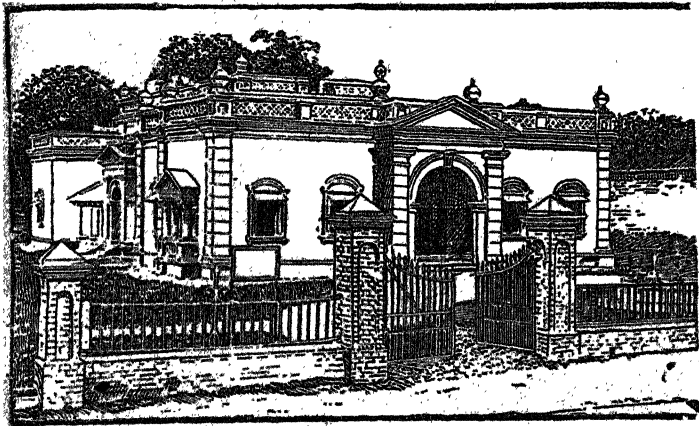
प्रकाशक—

काशी नागरीप्रचारिणी सभा।

संवत् १९८० ] [ मूल्य २॥)

# परिचय।

जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रांत में खेतड़ी राज्य है। वहाँ के राजा श्रीअजीतसिंहजी बहादुर बड़े यशस्वी और विद्याप्रेमी हुए। गणितशास्त्र में उनकी अद्भुत गति थी। विज्ञान उन्हें बहुत प्रिय था। राजनीति में वह दक्ष और गुणग्राहिता में अद्वितीय थे। दर्शन और अध्यात्म की रुचि उन्हें इतनी थी कि विलायत जाने के पहले और पीछे स्वामी विवेकानंद उनके यहाँ महीनों रहे। स्वामीजी से घंटों शास्त्र-चर्चा हुआ करती। राजपूताने में प्रसिद्ध है कि जयपुर के पुण्यश्लोक महाराज श्रीरामसिंहजी को छोड़कर ऐसी सर्वतोमुख प्रतिभा राजा श्रीअजीतसिंहजी ही में दिखाई दी।

राजा श्रीअजीतसिंहजी की रानी आउआ (मारवाड़) चाँपावत-जी के गर्भ से तीन संतति हुईं—दो कन्या, एक पुत्र। ज्येष्ठ कन्या श्रीमती सूरजकुँवर थीं जिनका विवाह शाहपुरा के राजाधिराज सर श्रीनाहरसिंहजी के ज्येष्ठ चिरंजीव और युवराज राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी से हुआ। छोटी कन्या श्रीमती चाँदकुँअर का विवाह प्रतापगढ़ के महारावल साहब के युवराज महाराजकुमार श्रीमानसिंहजी से हुआ। तीसरी संतान जयसिंहजी थे जो राजा श्रीअजीतसिंहजी और रानी चाँपावतजी के स्वर्गवास के पीछे खेतड़ी के राजा हुए।

इन तीनों के शुभचिंतकों के लिये तीनों की स्मृति संचित कर्मों के परिणाम से दुःखमय हुई। जयसिंहजी का स्वर्गवास सत्रह वर्ष की अवस्था में हुआ और सारी प्रजा, सब शुभचिंतक, संबंधी, मित्र और गुरुजनों का हृदय आज भी उस आँच से जल ही रहा है। अश्वत्थामा के व्रण की तरह यह घाव कभी भरने का नहीं। ऐसे आशामय जीवन का ऐसा निराशात्मक परिणाम कदाचित् ही हुआ हो। श्रीसूर्यकुँवर बाईजी को एक मात्र भाई के वियोग की ऐसी ठेस लगी कि दो ही तीन वर्ष में उनका शरीरांत हुआ। श्रीचाँदकुँवर बाईजी को वैधव्य की विषम यातना भोगनी पड़ी और भ्रातृ-वियोग और पति-वियोग दोनों का असह्य दुःख वे झेल रही हैं। उनके

एकमात्र चिरंजीव प्रतापगढ़ के कुँवर श्रीरामसिंहजी से मातामह राजा श्रीअजीतसिंहजी का कुल प्रजावान् है।

श्रीमती सूर्यकुमारीजी के कोई संतति जीवित न रही। उनके बहुत आग्रह करने पर भी राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी ने उनके जीवन-काल में दूसरा विवाह नहीं किया। किंतु उनके वियोग के पीछे, उनके आज्ञानुसार कृष्णगढ़ में विवाह किया जिससे उनके चिरंजीव वंशांकुर विद्यमान हैं।

श्रीमती सूर्यकुमारीजी बहुत शिक्षिता थीं। उनका अध्ययन बहुत विस्तृत था। उनका हिंदी का पुस्तकालय परिपूर्ण था। हिंदी इतनी अच्छी लिखती थीं और अक्षर इतने सुंदर होते थे कि देखनेवाला चमत्कृत रह जाता। स्वर्गवास के कुछ समय के पूर्व श्रीमती ने कहा था कि स्वामी विवेकानंदजी के सब ग्रंथों, व्याख्यानों और लेखों का प्रामाणिक हिंदी अनुवाद मैं छपवाऊँगी। बाल्यकाल से ही स्वामीजी के लेखों और अध्यात्म, विशेषतः अद्वैतवेदांत, की ओर श्रीमती की रुचि थी। श्रीमती के निर्देशानुसार इसका कार्यक्रम बाँधा गया। साथ ही श्रीमती ने यह इच्छा प्रकट की कि इस संबंध में हिंदी में उत्तमोत्तम ग्रंथों के प्रकाशन के लिये एक अक्षय नीवी की व्यवस्था का भी सूत्रपात हो जाय। इसका व्यवस्थापत्र बनते न बनते श्रीमती का स्वर्गवास हो गया।

राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी ने श्रीमती की अंतिम कामना के अनुसार लगभग एक लाख रुपया श्रीमती के इस संकल्प की पूर्ति के लिये विनियोग किया। काशी नागरीप्रचारिणी सभा के द्वारा इस ग्रंथमाला के प्रकाशन की व्यवस्था हुई है। स्वामी विवेकानंदजी के यावत् निबंधों के अतिरिक्त और भी उत्तमोत्तम ग्रंथ इस ग्रंथमाला में छापे जायँगे और लागत से कुछ ही अधिक मूल्य पर सर्वसाधारण के लिये सुलभ होंगे। इस ग्रंथमाला की बिक्री की आय इसी अक्षय नीवी में जोड़ दी जायगी। यों श्रीमती सूर्यकुमारी तथा श्रीमान् उमेदसिंहजी के पुण्य तथा यश की निरंतर वृद्धि होगी और हिंदी भाषा का अभ्युदय तथा उसके पाठकों को ज्ञान-लाभ।

# व्याख्यान-सूची

# विवेकानंद ग्रंथावली।

## ज्ञान योग।

### दूसरा खंड।

### ( १७ ) कर्म वेदांत।

( लंदन १० नवंबर १८९६ )

मुझसे लोगों ने वेदांत दर्शन के कर्मकांड के संबंध में कुछ कहने के लिये कहा है। मैं कह चुका हूँ कि सिद्धांत तो बहुत ही अच्छा है, पर वह व्यवहार में कैसे लाया जाय? यदि व्यवहार में नहीं लाया जा सकता, तो कोई सिद्धांत क्यों न हो, दो कौड़ी का है, वह केवल मनोविनोदार्थ है। वेदांत यदि धर्म है तो वह अवश्य व्यवहार योग्य होना चाहिए। उसका ऐसा होना आवश्यक है कि वह जीवन के प्रत्येक अंश में काम आ सके। केवल इतना ही नहीं, इससे धर्म और लोक में जो कल्पित (मिथ्या) भेद है, वह मिट जाना चाहिए। कारण यह कि वेदांत तो अद्वैत धर्म है; उसकी शिक्षा सार्वभौम एकता की है। धर्म का भाव तो यह होना चाहिए कि वह जीवन मात्र में व्याप्त हो, वह हमारे सारे विचारों में भर जाय और अधिक

से अधिक व्यवहार में लाया जा सके। अब हम आगे उसकी कर्मोपयोगिता का निदर्शन करते हैं। पर ये व्याख्यान आधार-रूप हैं, अतः हम पहले सिद्धांत पर विचार करते हैं। तब हमें जान पड़ेगा कि कैसे बन की गुफाओं से लेकर नगरों और गाँवों तक में उसका व्यवहार रहा है। सब से विशेषता की बात तो यह है कि इनमें बहुत से विचार जंगलों से नहीं आए हैं, किंतु ऐसे लोगों से आए हैं जिन का जीवन सब से अधिक झमेले का था, जो राजा या शासक थे।

श्वेतकेतु आरुणि का पुत्र प्रायः त्यागी ही था। वह बन में ही पाला गया था। पर वह पांचाल के नगर में गया और महाराज जैवलि प्रवाहन की सभा में पहुँचा। राजा ने उससे पूछा—'क्या आप जानते हैं कि प्राणी मरने पर कैसे यहाँ से जाते हैं?' उसने कहा—'नहीं'। 'आप जानते हैं कि वे यहाँ कैसे आते हैं?' उत्तर 'नहीं महाराज!' 'क्या आप पितृयान और देवयान के मार्ग को जानते हैं?' उत्तर 'नहीं महाराज!' फिर राजा ने और प्रश्न किए, पर श्वेतकेतु एक का भी उत्तर न दे सका। फिर राजा ने उससे कहा—'आप कुछ नहीं जानते'। बालक अपने पिता के पास गया और पिता ने भी यह मान लिया कि वह भी उन प्रश्नों के उत्तर नहीं दे सकता है। यह बात न थी कि वह बालक को बताना नहीं चाहता था, पर वह सचमुच उन्हें जानता ही न था। अतः श्वेतकेतु अपने पिता के साथ राजा के पास गया और दोनों ने उन रहस्यों को जानने के लिये प्रार्थना

की। राजा ने कहा कि अब तक इन बातों का ज्ञान राजाओं में ही था; ब्राह्मण लोग इन्हें नहीं जानते थे। अस्तु, उसने उन्हें उनके इच्छित रहस्य को बतलाना आरंभ किया। अनेक उपनिषदों में हमें यह मिलता है कि वेदांत ज्ञान केवल आरण्यकों के विचार का ही परिणाम नहीं है, अपितु उसके बहुत ही उत्कृष्ट अंश ऐसे लोगों के मस्तिष्क से निकले हैं जिनका जीवन नित्य के कामों के झमेले में व्यस्त रहता था। हम नहीं समझ सकते कि कोई उस कर्तुमकर्तु मन्यथा कर्तुं समर्थ राजा से अधिक झंझट में होगा—उस राजा से जो करोड़ों प्रजा के भाग्य का विधाता था। पर राजाओं में कितने ही बड़े विचारशील हो गए हैं और थे।

प्रत्येक बात से यही प्रमाणित होता है कि यह दर्शन अवश्य व्यवहार की वस्तु है; और अंत को जब हम भगवद्गीता पर आते हैं, तो कुछ संदेह ही नहीं रह जाता। आप लोगों में कितनों ने भगवद्गीता को पढ़ा होगा। वह वेदांत का उत्तम भाष्य है। सबसे अद्भुत बात तो यह है कि कुरुक्षेत्र में दोनों ओर से लोग युद्ध के लिये उद्यत हैं, ऐसी दशा में भगवान् कृष्णचंद्र अर्जुन को भगवद्गीता का उपदेश करते हैं। गीता के प्रत्येक पृष्ठ में जिस सिद्धांत का उपदेश किया गया है, वह नितांत कर्म में निरत करनेवाला और उत्साह बढ़ानेवाला है। पर उस उपदेश में भी शाश्वत शांति भरी हुई है। यही कर्म का रहस्य है। इसका प्राप्त करना वेदांत दर्शन का मुख्य लक्ष्य है।

अकर्मण्यता, जिसका अर्थ है किसी प्रकार की चेष्टा न करना, कभी उद्देश हो नहीं सकती । यदि ऐसा ही होता तब तो दीवार सबसे अधिक बुद्धिमान् और ज्ञानी होती; क्योंकि वह भी तो अकर्मण्य है। मिट्टी के डले, पेड़ों के ठूँठ संसार में सबसे बड़े महर्षि और महात्मा माने गए होते; क्योंकि वे किसी प्रकार की चेष्टा नहीं कर सकते। वह अकर्मण्यता कभी कर्मण्यता नहीं हो सकती जिसमें मनोविकार का लेश मात्र भी रहता है। सच्ची कर्मण्यता वा कर्म, जो वेदांत का उद्देश है, वही है जिसमें शाश्वत शांति हो, जिसकी शांति कभी भंग न हो सके, चित्त की वह समवृत्ति जिसमें चाहे जो हो, कभी क्षोभ न हो। हमें तो अपने जीवन में जो अनुभव मिलता है, उससे यही जान पड़ता है कि यही कर्म करने का सर्वोत्तम ढंग है।

मुझसे लोगों ने बार बार पूछा कि भला यदि हममें मनोविकार न हो तो हम कर्म कैसे कर सकते हैं ? कर्म के लिये तो प्रायः मनोविकार ही से प्रवृत्ति होती है। बहुत दिन हुए, मैं भी ऐसा ही जानता था। पर ज्यों ज्यों दिन बीतते जा रहे हैं और मुझे अनुभव होता जाता है, मुझे यह ठीक नहीं जान पड़ता। जितना ही मनोविकार कम हो, उतना ही हम अच्छा काम करते हैं। जितना ही हम शांत रहें, उतना ही अच्छा है और उतना ही अधिक हम काम कर सकते हैं। जब हमारा ध्यान बँटा रहता है तब शक्ति का अपव्यय होता है, नसें फटती हैं, मन क्षुब्ध रहता है और बहुत कम काम होता है। वह शक्ति

जो काम करने में लगती, इधर उधर की बातों में व्यय हो जाती हैं जिसका फल कुछ नहीं होता। केवल उसी समय, जब कि चित्त शांत और एकाग्र रहता है, सारी शक्तियाँ अच्छे काम में व्यय होती हैं। और यदि आप उन बड़े बड़े कर्मवीरों के जीवन-चरित्र को, जो संसार में हो गए हैं, देखें तो आपको जान पड़ेगा कि वे कैसे शांत प्रकृति के लोग थे। कोई वस्तु उनकी शांति को भंग नहीं कर सकती थी। यही कारण है कि वह मनुष्य जिसे क्रोध आता है, अधिक काम नहीं कर सकता; और वह पुरुष जिसे किसी कारण से क्रोध नहीं आता, बहुत अधिक काम कर डालता है। जो पुरुष क्रोध, घृणा वा अन्य मनोविकारों के वशीभूत रहता है, वह काम नहीं कर सकता। वह अपना सत्तानाश करता है और कुछ काम की बात नहीं कर सकता है। केवल शांत, क्षमाशील, अनुद्विग्न और स्थिर-चित्त मनुष्य ही सबसे अधिक काम कर सकते हैं।

वेदांत एक आदर्श की शिक्षा देता है; और यह आदर्श जैसा कि हम जानते हैं, सदा कहीं अधिक सच्चा और हम कह सकते हैं कि कहीं अधिक काम का होता है। मनुष्य की प्रकृति में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ होती हैं। एक तो यह कि वह आदर्श को अपने जीवन के अनुकूल बनाता है; और दूसरी यह कि वह अपने जीवन को आदर्श के अनुकूल करता है। इसका समझना बहुत बड़ी बात है। पहली प्रवृत्ति हमारे जीवन के विकार का हेतु मात्र है। मैं समझता हूँ कि मैं केवल किसी विशेष प्रकार

के ही काम कर सकता हूँ। उनमें कितने तो बुरे होते हैं और कितने संभवतः क्रोध, लोभ, स्वार्थादि मनोविकारों की गुप्त प्रेरणा के कारण होते हैं। अब यदि कोई आप के पास किसी आदर्श की शिक्षा देने आवे और उसकी पहली बात उसके लिये यह हो कि स्वार्थ और भोग को छोड़ो, तो मैं समझता हूँ कि यह असाध्य ( हो नहीं सकता ) है। पर ज्यों ही कोई ऐसा आदर्श लाता है जो मेरे स्वार्थ के अनुकूल होता है, तो मैं प्रसन्न हो जाता हूँ, उस पर उछलकर कूद पड़ता हूँ। यही मेरे लिये आदर्श है। जैसे पक्षपाती शब्द का अर्थ भिन्न रूप से परिवर्तित किया गया है, वैसे ही कर्म शब्द के अर्थ में भी परिवर्द्धन हुआ है। मेरा पक्षपात धर्मानुकूल है, तुम्हारा धर्म विरुद्ध है। यही दशा कर्मण्यता की भी है। जिसे मैं करणीय समझता हूँ, वही संसार में मेरे विचार से कर्मण्यता है। यदि मैं दूकानदार हूँ तो मैं समझता हूँ कि संसार भर में दूकानदारी ही उत्तम कर्मण्यता का व्यापार है। यदि मैं चोर हूँ तो मैं समझता हूँ कि कर्मण्य बनने का उत्तम मार्ग चोरी करना ही है; अन्य कार्य कर्मण्य बनाने योग्य नहीं हैं। लोग कर्मण्य शब्द का व्यवहार ऐसे कामों के संबंध में करते हैं, जिन्हें वे अच्छा समझते हैं और कर सकते हैं। अतः मैं आपसे इसे समझने के लिये अनुरोध करूँगा कि वेदांत यद्यपि कर्मण्य वा व्यवहार की वस्तु है, पर फिर भी उसकी कर्मण्यता आदर्श की दृष्टि से है। और मैं वह आदर्श यह है कि आप दैवी हैं। 'तत्त्वमसि !'

यही वेदांत का निचोड़ है। बहुत कूद-फाँद और मानसिक व्यायाम के अंत में आपको यह ज्ञान होता है कि मनुष्य की आत्मा न शुद्ध है और न सर्वव्यापी। आप देखिए कि ऐसे पक्षपात की, जैसे आत्मा के संबंध में जन्ममरण की, बातें जब कही जाती हैं तो वे नितांत ऊटपटांग हैं। आत्मा न कभी उत्पन्न हुई है और न मरेगी। सारी बातें कि हम मर रहे हैं, हम मरने से डरते हैं, अंध विश्वास मात्र हैं। ये सारी बातें भी कि हम इसे कर सकते हैं या इसे नहीं कर सकते, अंध विश्वास की बातें हैं। हम सब कुछ कर सकते हैं। वेदांत की शिक्षा है कि मनुष्य को पहले अपने ऊपर विश्वास करना चाहिए। जैसे किसी किसी धर्म का यह कथन है कि जो ईश्वर पर विश्वास नहीं करता, वह नास्तिक है, वैसे वेदांत का कहना है कि वह मनुष्य जिसे अपने ऊपर विश्वास नहीं है, नास्तिक है। वेदांत उसे नास्तिक मानता है जिसे अपनी आत्मा के महत्त्व पर विश्वास नहीं है। बहुतों को तो यह विचार भयानक प्रतीत होता है। बहुतों का कथन है कि हम इस आदर्श पर कभी पहुँच नहीं सकते। पर वेदांत कहता है कि सब इस आदर्श को साक्षात् कर सकते हैं। इस आदर्श पर पहुँचने से कोई रोक नहीं सकता। स्त्री, पुरुष, आबालवृद्ध बिना जाति और लिंग के भेद के सब इस आदर्श को साक्षात् कर सकते हैं। कारण यह है कि वेदांत कहता है कि इसका तो साक्षात् हो चुका; यह तो है ही।

संसार में सारी शक्तियाँ वा बल हमारे ही हैं। हम ही ने

तो अपनी आँखें अपने हाथों मूँद रखी हैं और चिल्ला रहे हैं कि अँधेरा है। जानो कि कहीं अँधेरा नहीं है। हाथ हटाओ, देखो कैसा प्रकाश है। यह प्रकाश पहले से था। कहीं अंधकार नहीं था, कहीं निर्बलता नहीं थी। हम मूर्ख हैं जो यह चिल्ला रहे हैं कि हम निर्बल हैं। हम मूर्ख हैं जो यह चिल्ला रहे हैं कि हम अशुद्ध हैं। वेदांत न केवल बलपूर्वक यह कहता है कि आदर्श कर्मण्यता की वस्तु है, अपितु यह भी कहता है कि यह सदा से था और यह आदर्श–यह सत्य–हमारा स्वरूप है। इसके अतिरिक्त जो कुछ आप देखते हैं, मिथ्या है, असत्य है। ज्यों ही आपके मुँह से यह निकलता है कि मैं मरणधर्मा हूँ, आप असत्य कहते हैं। आप अपने आपसे झूठ कह रहे हैं, अपने को नीच, निर्बल और दीन बना रहे हैं।

यह किसी को पाप नहीं मानता; यह किसी को भूल नहीं समझता। वेदांत का कथन है कि सबसे बड़ी भूल है अपने को निर्बल कहना, अपने को पापी समझना, अपने को हीन जानना, यह कहना कि हममें शक्ति नहीं है, हम यह या वह काम नहीं कर सकते हैं। जितनी बार आप ऐसा ध्यान करते हैं, आप अपनी आँख पर एक एक आवरण और चढ़ाते जाते हैं, अपनी आत्मा पर मोहोन्माद की तह पर तह और बढ़ाते जाते हैं। अतः जो यह विचारता है कि मैं निर्बल हूँ, भूल करता है। जो यह विचारता है कि मैं भूल कर रहा हूँ वह संसार में बुरे विचारों का प्रचार कर रहा है। यह अच्छी तरह ध्यान

रखने की बात है कि वेदांत यह नहीं चाहता कि यह जीवन, यह भ्रम का जीवन, यह मिथ्या जीवन आदर्श के अनुकूल बनाया जाय। परंतु वह यह चाहता है कि यह मिथ्या जीवन त्याग दिया जाय और तब सच्चा जीवन जो सदा से है, प्रकट होगा और चमकने लगेगा। कोई मनुष्य शुद्धातिशुद्ध नहीं होता, यह बड़ी अभिव्यक्ति की बात है। परदा हट जाता है और आत्मा की वास्तविक शुद्धता आपसे आप प्रकट होने लगती है। शाश्वत शुद्धि, मुक्ति, प्रेम और बल सब कुछ हमारे ही हैं।

वेदांत का यह कथन है कि केवल जंगल वा गुफाओं में ही रहकर कोई इसे साक्षात् नहीं कर सकता, बल्कि मनुष्य किसी दशा में रहे, इसे प्राप्त कर सकता है। हम देख चुके हैं कि जिन लोगों ने इस सत्य का आविष्कार किया, वे गुफाओं के रहनेवाले न थे और न वे सामान्य मनुष्य थे, जिन्हें अवकाश था; अपितु ऐसे लोग थे जिनका सारा जीवन काम काज में लगा रहता था। इसके अनेक हेतु हैं। वे बड़ी बड़ी सेनाएँ रखते, उनका प्रबंध करते, राजसिंहासन पर बैठते और प्रजा के सुख के लिये देखरेख करते थे; और यह सब ऐसे समय की बात है जब राजा ही सबके कर्ता धर्ता थे। आजकल की तरह वे केवल काठ की पुतली की भाँति नहीं रहा करते थे। फिर भी उन्हें इतना अवकाश मिल जाता था कि वे इन बातों को सोच सकते थे, इन्हें साक्षात् कर सकते थे और मनुष्यों को उनकी शिक्षा दे सकते थे। अब बताइए तो सही कि यह हमारे

लिये, जिन्हें उनकी अपेक्षा कहीं अधिक अवकाश मिल सकता है, कितना अधिक कर्मण्यता वा व्यवहार का विषय हो सकता है। ऐसी अवस्था में जब हम देखते हैं कि हमें सदा अवकाश ही रहता है, बहुत कम काम करने को रहता है, यह कितनी लज्जा की बात है कि हम उन्हें साक्षात् न कर सकें। इन प्राचीन महाराजाओं की अपेक्षा हमारी आवश्यकताएँ क्या हैं? कुछ भी तो नहीं जान पड़तीं। भला यह तो विचारिए कि अर्जुन के सामने जो रणक्षेत्र में बड़ी सेना लिए युद्ध करने को खड़ा था, क्या हमें अधिक अपेक्षा हो सकती है। पर उसे भी तो रणक्षेत्र के निनाद और तुमुल संक्षोभ में इस उच्च विज्ञान को सीखने और आचरण करने का अवकाश मिलता है। इसमें संदेह नहीं कि हमें चाहिए कि हम अपने इस जीवन में इसका अनुष्ठान करें। हम उससे अधिक स्वच्छंद सुखी हैं, हमें अधिक सुगमता है। हममें कितने लोगों को तो उससे कहीं अधिक अवकाश है जितना कि हमारी समझ में उन्हें होगा; और यदि हम चाहें तो उसे इस अच्छे काम में लगा सकते हैं। जितनी स्वतंत्रता हमें है, उससे यदि हम चाहें तो इस जीवन में दो सौ आदर्शों पर पहुँच सकते हैं, पर यह उचित है कि हम आदर्श को गिराकर वास्तविक अवस्थानुकूल न बना दें। सबसे अधिक लज्जा की बात तो यह है कि ऐसे लोग भी देख पड़ते हैं जो अपनी भूलों पर बार बार बातें गढ़ते रहते हैं। ऐसे लोगों से हमें अपनी सारी निरर्थक आवश्यकताओं और निष्प्रयोजन

इच्छाओं के लिये नाना प्रकार की बातें बनाने और हेतु गढ़ने की शिक्षा मिलती है। और हम तो समझते हैं कि उनका आदर्श वही है जिसकी उन्हें आवश्यकता जान पड़े। पर यह ठीक बात नहीं है। वेदांत हमें ऐसी बात की शिक्षा नहीं देता है। वास्तविक अवस्था को आदर्श के अनुसार होना चाहिए, वर्तमान जीवन शाश्वत जीवन के अनुसार होना चाहिए।

आप यह सदा स्मरण रखें कि वेदांत का मुख्य आदर्श एकता है। यहाँ दो पदार्थ, दो जीवन हैं ही नहीं; और दो लोकों के लिये दो भिन्न प्रकार के जीवन हैं। आप देखेंगे कि वेदों में पहले स्वर्ग और उसी प्रकार की अन्य बातों का उल्लेख मिलता है। पर जब वही वेद दर्शन के उच्च आदर्शों पर पहुँचते हैं, तब उन्हीं में सब पर हरताल फिर जाता है। फिर एक ही आत्मा, एक ही लोक और एक ही सत्ता रह जाती है। सब वही एक ही है। भेद केवल मात्रा का है, प्रकार का नहीं है। हमारे जीव में प्रकार का अंतर नहीं है। वेदांत ऐसी बातों का समूल निषेध करता है कि पशु-पक्षी और हैं और मनुष्य और हैं; और ईश्वर ने पशु-पक्षियों को खाने के लिये उत्पन्न किया है।

कुछ लोगों ने ऐसी समिति स्थापित की है जिसका उद्देश यह है कि विज्ञानसंबंधी परीक्षाओं के लिये प्राणियों का घात न किया जाय। मुझे स्मरण आता है कि मैंने एक बार ऐसी ही समिति के सभ्य से पूछा कि भला आप यह तो बतलाइए कि यह कहाँ तक ठीक है कि मांस खाने के लिये तो प्राणियों की हिंसा उचित

है और दो एक की हिंसा वैज्ञानिक परीक्षा के लिये अनुचित है? उसने उत्तर दिया कि वैज्ञानिक परीक्षा के लिये चीरफाड़ आदि करना अत्यंत घृणित कर्म है; पर पशु-पक्षी तो खाने ही के लिये बनाए गए हैं। अद्वैत वा एकता में सभी प्राणी आ जाते हैं। जैसे मनुष्य की आत्मा अमर है, वैसे ही पशुपक्षियों की भी आत्माएँ हैं। भेद केवल मात्रा का है, प्रकार का नहीं। एकेंद्रिय जंतु और मैं एक ही हूँ। भेद केवल मात्रा का है; और उच्च दृष्टि से देखिए तो यह सब भेदभाव रह ही नहीं जाते। मनुष्य को घास और छोटे वृक्षों में बड़ा भेद दिखाई पड़ता है। यदि आप ऊँचे स्थान से जाकर देखें तो आप को घास और बड़े बड़े वृक्ष भी समान ही दिखाई पड़ेंगे। यही दशा उच्च आदर्श की दृष्टि से देखने की है। वहाँ क्षुद्र जंतु और उच्च मनुष्य भी समान ही हैं। ऐसा ईश्वर जो अपने एक पुत्र मनुष्य का पक्षपात करे और अन्य पुत्रों—पशुपक्षियों—के ऊपर निर्दयता दिखलावे, राक्षस से कहीं गया बीता है। मैं तो मरने को ऐसे ईश्वर के पूजने से सैकड़ों गुना अच्छा समझता हूँ। मुझे तो अपना सारा जीवन ऐसे ईश्वर के साथ लड़ने ही में खपाना पड़ेगा। पर यहाँ भी कोई अंतर नहीं है; और जो लोग अंतर मानते हैं, वे अनुत्तरदायी और हृदयहीन हैं, उन्हें कुछ ज्ञान नहीं है। यह कर्मण्यता वा व्यवहार को अनुपयुक्त अर्थ में काम में लाने का अच्छा उदाहरण है। संभव है कि मैं बिलकुल शाकाहारी न होऊँ, पर मैं इस आदर्श को समझता हूँ। जब मैं

मांस खाता हूँ तब मैं समझता हूँ कि मैं अन्याय करता हूँ। यहाँ तक कि यदि मुझे किसी विशेष अवस्था में पड़कर मांस खाना ही पड़े तो मैं यही समझूँगा कि यह निर्दयता का कर्म है। मैं अपना आदर्श अपनी आवश्यकता व वास्तविकता के अनुसार न बनाऊँगा और अपने निर्बलता के व्यवहार के लिये इस प्रकार की बातें कभी न बनाऊँगा। आदर्श यह नहीं है कि आप मांस खायँ वा किसी प्राणी को दुःख दें, क्योंकि सब प्राणी हमारे भाई हैं। यदि आप उन्हें अपना भाई समझ सकें, तो आप समझ जाइए कि आत्मा के भ्रातृत्व की ओर बढ़े—मनुष्य के भ्रातृत्व की तो बात ही क्या है? वह तो बच्चों के खेल की बात है। अब प्रायः यह जान पड़ेगा कि बहुतों को यह बात नहीं रुचेगी; पर यह उन्हें यही शिक्षा देती है कि आवश्यकता वा वास्तविकता को छोड़ो और आदर्श की ओर पैर बढ़ाओ। यदि आप किसी ऐसे सिद्धांत को उनके सामने रखें जो उनके वर्तमान आचार-व्यवहार के अनुकूल पड़े, तो वे उसे बहुत ही कर्मण्य वा व्यावहारिक बतलावेंगे।

मनुष्य में एक विशेषता है कि वह प्राचीन रीति-नीति को नहीं छोड़ता, वह उससे तनिक भी आगे खिसकना नहीं चाहता। मनुष्यों की दशा ठीक वैसी ही है जैसी उस मनुष्य की होती है जो हिम में ठिठुरकर हिममय हो रहा हो। उसे नींद आती है और वह सोना चाहता है। यदि आप उसे वहाँ से खींचकर हटाना चाहें तो वह यही कहता है कि मुझे यहीं

रहने दो। मुझे सोने दो, हिम में पड़े सोने में बड़ा ही आनंद मिलता है। इस प्रकार पड़े पड़े हम मर ही जाते हैं। ठीक ऐसी ही दशा हमारी प्रकृति की है। ठीक ऐसा ही हम अपने जीवन में कर रहे हैं। पैर से सिर तक हिममय होते जा रहे हैं; फिर भी हम सोना ही चाहते हैं। अतः आप को चाहिए कि आप आदर्श की ओर बढ़ने का प्रयास करें। अब यदि कोई आवे और आपसे कहे कि हम आपको ऐसा आदर्श बतलावेंगे जो आपकी अवस्था के अनुकूल है और ऐसे धर्म की शिक्षा दे जिसका आदर्श सर्वोच्च न हो, तो आप कान न दीजिए। मेरी समझ में तो वह धर्म अशक्य वा असाध्य है। पर यदि कोई ऐसे धर्म की शिक्षा दे जिसका आदर्श सर्वोच्च हो, तो मैं उसे स्वीकार करने को उद्यत हूँ। ऐसे लोगों से सावधान रहो जो अपने विषय की असारता और निर्बलता के लिये बातें बनाया करते हैं। यदि कोई इस प्रकार हमें उपदेश देने आवे तो हम उस उपदेश पर चलने से कभी उन्नति नहीं कर सकते। हम तो संसार में विषय के बंधनों में पड़कर जड़ीभूत हो गए हैं। मैंने ऐसी बहुत बातें देखी हैं, मुझे संसार का कुछ अनुभव हो चुका है; और मेरा तो वह देश है जहाँ धर्म कुकुरमुत्ते की भाँति नित्य उपजते रहते हैं—प्रति वर्ष नए नए धर्म निकला करते हैं। और मुझे तो एक विलक्षण बात यह देख पड़ी है कि वही धर्म उन्नति करते हैं जिनमें सांसारिक जीवन और पारमार्थिक जीवन एक नहीं बतलाया जाता, जिनमें पंचभौतिक पुरुष और

सत्यपुरुष एक ही सा नहीं समझा जाता। जिस धर्म में यह अंध-विश्वास वा मिथ्या सिद्धांत है कि लौकिक निःसारता और उच्च आदर्श में सादृश्य है, जिसमें ईश्वर को मनुष्य की कोटि में बलपूर्वक खींचकर लाते हैं, उसीका नाश होता है। मनुष्य को लोक का दास नहीं होना चाहिए। उसे ईश्वर का आसन वा पद मिलना चाहिए।

साथ ही साथ हमें इस प्रश्न के दूसरे ओर भी देखना चाहिए। हमें दूसरों को घृणा की दृष्टि से न देखना चाहिए। हम सब एक ही लक्ष्य की ओर जा रहे हैं। निर्बलता और सबलता में भेद केवल मात्रा का ही है; स्वर्ग-नरक में केवल मात्रा का ही अंतर है; जीवन और मृत्यु में केवल मात्रा का ही अंतर है; इस लोक और परलोक में केवल मात्रा का ही अंतर है; प्रकार का अंतर नहीं है। कारण यह है कि सब का रहस्य वही एक है। सब एक ही हैं जो भिन्न भिन्न रूपों में व्यक्त हो रहे हैं। उसी की अभिव्यक्ति बुद्धि, जीवन, आत्मा, देह आदि सब हैं। उनमें केवल मात्रा का ही अंतर है। इस प्रकार हमें कोई अधिकार नहीं है कि उन्हें घृणा की दृष्टि से देखें जो उतना अधिक अभिव्यक्त नहीं हो सके हैं जितना हम हो चुके हैं। किसी को बुरा मत कहो। यदि तुम से हो सके तो उसे सहायता पहुँचाओ। यदि न हो सके तो चुपचाप रहो, अपने भाई को आशीर्वाद दो और उसे अपनी राह जाने दो। किसी को घसीटना वा भला बुरा कहना काम चलाने की बात नहीं है।

इस प्रकार करने से कोई काम पूरा नहीं हो सकता। हम अपनी शक्ति दूसरों को कोसने में व्यय कर देते हैं। छिद्रान्वेषण करना और भला बुरा कहना शक्ति को व्यर्थ व्यय करने के द्वार हैं; क्योंकि बहुत दूर चलकर मुझे यह बोध हुआ है कि सब एक ही लक्ष्य के ऊपर दृष्टि लगाए हुए हैं। सब उसी आदर्श पर पहुँच रहे हैं; और जो भेद जान पड़ता है वह केवल शब्द का भेद है।

उदाहरण के लिये 'पाप' के ही विचार को ले लीजिए। मैं अभी आपको इस विषय में वेदांत के विचार बतला चुका हूँ। और दूसरा विचार यह है कि मनुष्य पापी है। पर बात दोनों की एक ही है। एक निश्चयात्मक पक्ष से और दूसरा निषेधात्मक पक्ष से है। एक यह प्रमाणित करता है कि मनुष्य में बल है; दूसरा निर्बलता प्रमाणित करता है। वेदांत कहता है कि यदि निर्बलता हो तो कोई चिंता की बात नहीं; हम बढ़ना, उन्नति करना चाहते हैं। मनुष्य की उत्पत्ति के साथ ही रोग लगा है। सब अपने रोग को जानते हैं। किसी को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि हमें कौन सा रोग है। पर सदा यह विचारते रहने से कि हम रोगी हैं, हम अच्छे नहीं हो जायँगे। अच्छे तो औषध करने से होंगे। हम बाहर के सब पदार्थों को भूल क्यों न जायँ, हम बाह्य जगत् को वंचना करने की चेष्टा क्यों न करें, पर अपने मन में हम अपनी निर्बलता को अवश्य जानते रहते हैं। पर वेदांत कहता है कि अपनी निर्बल-

ता का बार बार स्मरण करने से कुछ लाभ नहीं होता। उससे बल थोड़े ही आता है। सदा यह सोचते रहने से कि हम निर्बल हैं, बल कभी आ नहीं सकता। निर्बलता का प्रतीकार निर्बलता को सेने से नहीं होता, अपितु बल के स्मरण से होता है। लोगों को वह बल बतलाओ जो उनके भीतर भरा है। लोगों से यह कहने के स्थान में कि 'तुम पापी हो' वेदांत विरुद्ध पक्ष को लेता है और कहता है कि 'आप शुद्ध और पूर्ण हैं। जिसे आप पाप कहते हैं, वह आपका नहीं है'। अभिव्यक्ति का 'पाप' अत्यंत निकृष्ट रूप है। आप अपने को उच्च मात्रा में अभिव्यक्त कीजिए। एक बात स्मरण रखिए कि हम सब कुछ सहन कर सकते हैं। कभी न कहो, यह कभी न कहो कि यह हमसे नहीं हो सकता। आप तो अप्रमेय हैं। आपकी प्रकृति के सामने देशकाल की कोई गणना नहीं है। आप सब कुछ कर सकते हैं, आप सर्वशक्तिमान् हैं।

यही आचार-शास्त्र का तत्व है। पर हम इससे नीचे उतरते हैं और एक एक करके देखते हैं। उससे जान पड़ता है कि वेदांत नित्य के व्यवहार में लाया जा सकता है। क्या नगर में हो क्या गाँव में, क्या जातीय जीवन हो क्या गृहजीवन हो, सर्वत्र सब जातियों में यह व्यवहार में लाया जा सकता है। कारण यह है कि यदि धर्म मनुष्य को सब स्थानों और सब स्थितियों में सहायता नहीं पहुँचा सकता तो वह किसी काम का धर्म नहीं है। वह केवल सिद्धांत के रूप में इनेगिने लोगों के लिये

ही रह जायगा। वही धर्म मनुष्य के लिये उपकारी है जो सदा सबको सहायता करने के लिये उद्यत रहे; चाहे वह दासत्व की दशा में हो या स्वतंत्रता में; अधोगति से उच्च गति तक सर्वत्र सभी दशा में समान रूप से उसका सहायक बना रहे। इसको वेदांत का तत्व कहो वा धर्म का आदर्श कहो, अथवा जो मन भावे सो कहो, इसकी सार्थकता तभी है जब यह इस बड़े काम को पूरा कर सके।

अपने ऊपर विश्वास रखने का आदर्श हमारे लिये बड़े काम का है। यदि अपने ऊपर विश्वास रखने की शिक्षा अधिक ध्यानपूर्वक दी जाती और उस पर बरता जाता तो मुझे विश्वास है कि हमारी बहुत सी बुराइयाँ और आपत्तियाँ दूर हो गई होतीं। मनुष्य जाति के इतिहास में यदि कोई शक्ति बड़े लोगों के जीवन में सबसे अधिक उत्तेजना देनेवाली हुई है तो वह धर्म की शक्ति है। वे इस ज्ञान को लेकर उत्पन्न हुए थे कि हम बड़े होंगे और इसी लिये वे बड़े हुए। मनुष्य कितना ही पतित क्यों न हो जाय, पर एक समय आवेगा कि वह सहसा ऊपर को उठेगा और अपने ऊपर विश्वास रखना सीखेगा। पर यह सबसे उत्तम बात है और इसीमें हमारी भलाई है कि हम उसे पहले ही से सीखें। इसकी क्या आवश्यकता है कि हम अपने ऊपर विश्वास रखना सीखने के लिये इतना अनुभव करें। हम देखते हैं कि मनुष्यों में जो अंतर है, वह अपने ऊपर विश्वास होने वा न होने के कारण ही है। अपने ऊपर विश्वास

रखने ही से हम सब कुछ कर सकते हैं। मैंने अपने जीवन में अनुभव किया है और अनुभव करता आ रहा हूँ। और ज्यों ज्यों दिन बीतते जा रहे हैं, त्यों त्यों मेरा अपने ऊपर विश्वास अधिक अधिक दृढ़ होता जा रहा है। वह नास्तिक है जिसे अपने ऊपर विश्वास नहीं है। प्राचीन धर्मों ने यह कहा है कि जिसका विश्वास ईश्वर पर नहीं है, वह नास्तिक है। पर नया धर्म यह कहता है कि नास्तिक वह है जिसे अपने ऊपर विश्वास नहीं है। पर ध्यान रहे कि यह स्वार्थ का धर्म नहीं है। कारण यह है कि वेदांत ठहरा अद्वैतवाद। उसका अभिप्राय है सब पर विश्वास रखना; कारण यह है कि आप ही सब कुछ हैं। अपने साथ प्रेम करने का अर्थ है सबके साथ प्रेम करना; क्योंकि आप और सब एक ही तो हैं। पशु के लिये प्रेम करना, पक्षी के लिये प्रेम करना, सबके लिये प्रेम करना, यही एक बड़ा धर्म है जिससे संसार की दशा फिर सकती है। मुझे तो इसका दृढ़ विश्वास है। वही सबसे बड़ा महापुरुष है जो शपथ-पूर्वक यह कह सकता है कि मुझे अपना पूर्ण ज्ञान है। क्या आप जानते हैं कि आप की ओट में—भीतर—कितनी शक्तियाँ, कितने बल छिपे पड़े हैं? क्या वैज्ञानिकों को इसका पूरा ज्ञान हो गया है कि मनुष्यों में क्या क्या गुण भरे हुए हैं? मनुष्य को उत्पन्न हुए करोड़ों वर्ष हो गए, पर अभी तक उसकी शक्तियों का एक अणुमात्र व्यक्त हो पाया है। अतः आप को यह कहना न चाहिए कि हम निर्बल हैं। आपको इसका ज्ञान कैसे है कि इस अधःपतन

के पीछे क्या होनेवाला है? तुम्हें तो जो जो कुछ तुम्हारे भीतर है, उसके रंच मात्र का ज्ञान हुआ है। क्योंकि तुममें अनंत शक्ति की राशि और आनंद का सागर भरा पड़ा है जिसका तुम्हें ज्ञान ही नहीं है।

'आत्मा वा अरे श्रोतव्यः'। दिन रात इसका श्रवण करो कि तुम आत्मा हो। इसे दिन रात जपते रहो, यहाँ तक कि यह तुम्हारी नस नस में प्रविष्ट हो जाय, तुम्हारे एक एक विंदु रक्त में भर जाय और तुम्हारे मांस और अस्थि में समा जाय। अपने सारे शरीर में इस आदर्श का भर जाने दो कि मैं अजन्मा, अमर, आनंदमय, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी और महान् आत्मा हूँ। इसे दिन रात मनन करो, इसे मनन करते रहो; यहाँ तक कि यह तुम्हारे जीवन का अंग बन जाय। इसीका निदध्यासन करो और इसी निदध्यासन से कर्म की उत्पत्ति होगी। जब मन भरा रहता है तब मुँह से बात निकलती है, जब मन भरा रहता है तब हाथ भी काम में चलता है। फिर तो काम होगा ही। अपने में आदर्श को भर लो। जो कुछ करो, उसी पर भले प्रकार चिंतन करते रहो। तुम्हारा काम महत् रूप धारण कर लेगा, उसकी दशा बदल जायगी और उसी चिंतन के प्रभाव से देवस्वरूप हो जायगा। यदि प्रकृति वा द्रव्य में शक्ति है तो चिंतन में अतुल शक्ति है, वह सर्वशक्तिमान् है। इस विचार को अपने जीवन पर चरितार्थ करो, अपने सर्व शक्तिमत्व और महत्व के विचार से परिपूर्ण हो जाओ। ईश्वर के लिये आपके मस्तिष्क में

किसी पक्षपात का स्थान नहीं है। ईश्वर की कृपा है कि मनुष्य इन पक्षपातों के प्रभाव, निर्बलता और नीचता के घातक भावों से आक्रांत नहीं है। पर मनुष्य को इन सबमें होकर जाना है। उन लोगों के लिये जो आगे होनेवाले हैं, मार्ग को कठिन और कंटकपूर्ण मत बनाओ।

ये बातें बतलाने में कभी कभी भयानक जान पड़ती हैं। मैं उन्हें जानता हूँ जो इन विचारों को सुनकर घबरा जाते हैं। पर उन लोगों के लिये जो कर्मण्य बनना चाहते हैं, इसका जानना मुख्य है। कभी आप अपने से वा दूसरे से यह मत कहिए कि तुम निर्बल हो। हो सके तो भलाई कीजिए, पर संसार को हानि मत पहुँचाइए। आप इसे अपने मन में समझते हैं कि आपके यह संकुचित विचार और किसी कल्पित व्यक्ति के सामने सिर झुकाना, प्रार्थना करना और गिड़गिड़ाना पक्षपात की बातें हैं। मुझे एक भी अवस्था तो बतलाइए जहाँ इन प्रार्थनाओं का उत्तर मिला हो। जो कुछ उत्तर मिला, वह आप ही के हृदय से मिला। आप जानते हैं कि भूत कहीं नहीं है। पर ज्यों ही आप अँधेरे में जाते हैं, आप पर कँपकँपी छा जाती है। इसका कारण यही है कि बचपन ही से यह सब विचार हमारे मस्तिष्क में ठूसे गए हैं। पर कृपा करके समाज के भय से या इस भय से कि लोग ऐसा मानते हैं या इसलिये कि लोग आप से घृणा करेंगे, वा आपके पक्षपात, जिनके साथ आपको राग है, जाते रहेंगे, और लोगों को तो इन बातों की शिक्षा मत

दीजिए। इन सब बातों को अपने ही तक रखिए, उन्हें अपने वश में कीजिए। भला सोचिए तो सही कि विश्व की एकता और आत्मा की एकता से बढ़कर धर्म में सिखलाने की और कौन सी बात है। सहस्रों वर्ष मनुष्य इसी लक्ष्य की ओर जाने के लिये सारा श्रम करते आए हैं और अब तक करते जा रहे हैं। अब आपकी बारी है। आप जानते हैं कि सत्य क्या है। क्योंकि इसी की शिक्षा चारों ओर हुई है। भला आज का वह वैज्ञानिक पुरुष कहाँ है जो इस एकता की सत्यता को स्वीकार करने से भय करता है? ऐसा कौन है जो 'अनेक लोक हैं' यह कहने का साहस करता है? यह सब पक्षपात है। एक ही आत्मा और एक ही लोक है। वही एक आत्मा और एक लोक हमें अनेक भासित होता है। यह अनेकत्व स्वप्नवत् है। आप जब स्वप्न देखते हैं तो एक स्वप्न जाता है और आप दूसरा देखते हैं। आप अपने स्वप्न में पड़े नहीं रहते। एक स्वप्न जाता है, दूसरा आता है। दृश्य पर दृश्य आप के सामने प्रकट होते रहते हैं। इसी प्रकार इस लोक में सैकड़ा नब्बे दुःख और दस सुख की बात है। संभव है कि थोड़ी ही देर में आपको सैकड़ा नब्बे सुख और दस दुःख देख पड़ें और हम इसे स्वर्ग कहें। पर ऋषियों के लिये एक ऐसा समय आ जाता है जब कि यह सब जाता रहता है और यह लोक उन्हें ईश्वर-स्वरूप देखाई पड़ता है—उनकी आत्मा ब्रह्मरूप हो जाती है। अतः यह बात ठीक नहीं है कि अनेक लोक हैं। यह मिथ्या है कि अनेक आत्माएँ हैं। यह

सब नानात्व उसी एक की अभिव्यक्ति मात्र है। वही एक नाना रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है। प्रकृति हो, जीव हो, मन हो, बुद्धि हो वा और कुछ हो, सब उसी के विग्रह मात्र हैं। यह वही एक है जो अनेक रूपों में व्यक्त हो रहा है। अतः हमारे लिये सबसे पहला उपाय यह है कि हम अपने को और औरों को सत्य की शिक्षा दें।

संसार को इस आदर्श के शब्द से भर दो और पक्षपात का नाश कर दो। उन लोगों से जो निर्बल हैं, यह कहो और कहते जाओ कि आप शुद्ध हैं। जागो और उठो; हे महानुभाव यह सोना आपके लिये उपर्युक्त नहीं है। जागो और उठो, ऐसे पड़े रहना आप के योग्य नहीं है। इसे ध्यान में न लावें कि आप निर्बल और दुःखी हैं। हे सर्वशक्तिमान् उठो, और अपने स्वरूप को व्यक्त करो। यह आपको उचित नहीं है कि आप अपने को पापी समझें। यह आपके योग्य नहीं है कि अपने को निर्बल जानें। यह आप संसार भर से कहिए, अपने से कहिए और देखिए तो इसका क्या उचित फल होता है। देखिए कि बिजली की भाँति सब व्यक्त हो जाते हैं, सब की दशा फिर जाती है। इसे मनुष्य मात्र से कहिए और उन्हें उनकी शक्ति दिखला दीजिए। तभी हमें इसका ज्ञान होगा कि नित्य के कामों में इसका व्यवहार कैसे हो सकता है।

विवेकवान होकर अपने जीवन के प्रत्येक क्षण, बात बात में सत्य असत्य का विवेक करने से हमें सत्य की कसौटी मिल

जायगी। यही सत्य पवित्रता है, यही एकता है। जिसे एकता संपादन हो वह सत्य है। प्रेम सत्य है और घृणा मिथ्या है। कारण यही है कि घृणा से भेद बढ़ता है। यह घृणा ही है जो मनुष्य मनुष्य में भेद कराती है, अतः यह मिथ्या है। यह वियोजक शक्ति है, यह भेद उत्पन्न करनेवाली और नाश करनेवाली है।

प्रेम सबको मिलाता और प्रेम उस एकता का संपादन करता है। आप उससे एकता को प्राप्त होते हैं। माता संतान से, घर नगर से मिलते मिलते सारे संसार के प्राणी मिलकर एक हो जाते हैं। क्योंकि प्रेम ही सत्ता है। वह साक्षात् ईश्वर है। जो कुछ है, सब उसी एक प्रेम की अभिव्यंजना है। भेद केवल मात्रा का है। पर यह सब कुछ उसी प्रेम की अभिव्यक्ति मात्र है। अतः हमें अपने सब कर्मों में यह विचार रखना चाहिए कि वह एकता का संपादन करता है वा नानात्व का। यदि नानात्व का संपादन होता है, तो हमें उसे परित्याग कर देना चाहिए; और यदि एकत्व का संपादन होता है तो वह निश्चय है कि अच्छा है। यही दशा हमारे विचारों की है। हमें इसका निश्चय कर लेना चाहिए कि उसका परिणाम भेद वा नानात्व है अथवा एकता है; और आत्मा आत्मा से मिलकर एक हो जाते हैं। यदि उसका परिणाम एकता है तो हमें उसे रखना चाहिए; अन्यथा उसे निकालकर दूर कर देना चाहिए। वह पाप है।

आचारशास्त्र का सारा सिद्धांत यही है कि उसका आधार अज्ञेय नहीं होता, वह अज्ञात वस्तु की शिक्षा नहीं देता । पर उपनिषद् की भाषा में जिस "अज्ञात ईश्वर की हम उपासना करते हैं, उसीकी मैं तुझे शिक्षा देता हूँ ।" वह आत्मा ही है जिसके द्वारा आपको किसी पदार्थ का बोध होता है। मैं कुरसी को देखता हूँ; पर कुरसी के देखने में मैं पहले आत्मा को देखता हूँ, फिर कुरसी को देखता हूँ। यह आत्मा ही है जिसके द्वारा कुरसी दिखाई पड़ती है। यह आत्मा ही है जिसके द्वारा मैं आपको जानता हूँ और सारे संसार का मुझे बोध होता है। अतः यह कहना कि आत्मा अज्ञात है, नितांत मूर्खता की बात है। आत्मा को दूर कर दो, सारे विश्व का लोप हो जाता है। आत्मा ही के द्वारा तो सारे ज्ञान हममें आते हैं। अतः यह सबसे अधिक विज्ञाततम है। यह आप ही हैं जिसे आप 'मैं' कहते हैं। आपको आश्चर्य्य होगा कि कैसे मेरा यह 'मैं' तुम्हारा 'मैं' हो सकता है। आपको आश्चर्य होगा कि कैसे यह परिमित 'मैं' अपरिमित, अनंत हो सकता है; पर ऐसा होता है। 'परिमित' कहना केवल कल्पना है। वह अनंत मानों आवृत है और उसका अणुमात्र 'मैं' के रूप में व्यक्त हो रहा है। अपरिमित कभी परिमित नहीं हो सकता। यह कल्पना की बात है। अतः आत्मा हम सबको ज्ञात है; स्त्री-पुरुष, आबाल-वृद्ध, पशु-पक्षी सबको आत्मा ज्ञात है। बिना आत्मा के ज्ञान के न हम जी सकते हैं, न गति कर सकते हैं, न अपनी सत्ता

ही को रख सकते हैं। बिना इस सर्वेश्वर के ज्ञान के न हम साँस ले सकते हैं न एक क्षण जी ही सकते हैं। वेदांत का ईश्वर सबसे विज्ञाततम है; वह कल्पना-प्रसूत नहीं है।

यदि यह शिक्षा वास्तविक ईश्वर की नहीं है, तो आप वास्तविक ईश्वर की कैसे शिक्षा दे सकते हैं? उससे बढ़कर यथार्थ ईश्वर कहाँ मिलेगा जिसे हम अपने सामने देखते हैं, जो सर्वव्यापी सबमें है और जो हमारी इंद्रियों से भी अधिक स्पष्ट है? क्योंकि आप तो वही सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान् ईश्वर हैं। वही तुम्हारी आत्मा की आत्मा है। यदि मैं यह कहूँ कि आप वह नहीं हैं तो मैं असत्य कहता हूँ। मैं उसे जानता हूँ, चाहे उसे सदा साक्षात् करूँ वा न करूँ। वही एकता है, सब की एकता है, सब जीवों की सत्ताओं की सत्ता है।

वेदांत के इस आचार वा व्यवहार के भाव की विवृत्ति की आवश्यता है, अतः आपको धैर्य्य रखना चाहिए। जैसा मैं आपसे कह चुका हूँ, मेरा विचार है कि इस विषय की विशेष विवृत्ति करूँ और अच्छी तरह छानबीन करके यह दिखलाऊँ कि यह भाव कैसे अति नीच आदर्श से निकला, कैसे एकता के महदादर्श का आविष्कार हुआ और विश्वव्यापी प्रेम बन गया। हमें भय से बचने के लिये इसका अध्ययन करने की आवश्यकता है। संसार में लोगों को अवकाश नहीं मिलता कि वे इसका पता चलाव कि कैसे यह सामान्य भाव से विकास को प्राप्त हुआ। पर हमें उच्च स्थान पर पहुँचने से क्या लाभ,

यदि हम उन लोगों को जो हमारे पीछे आनेवाले हैं, सत्य को बतला न सकें ? अतः यह अच्छा जान पड़ता है कि इसकी अवांतर श्रेणियों की जाँच की जाय। सब से पहली आवश्यक बात तो यह है कि बुद्धि के कामों को अलग कर दिया जाय; क्योंकि हम जानते हैं कि बुद्धिमत्ता कुछ है नहीं। इसमें तो अंतःकरण ही सब से अधिक प्रधान है। आत्म का दर्शन अंतःकरण ही में होता है, बुद्धि-द्वारा उसे नहीं देख सकते। बुद्धि तो झाड़ू देनेवाली है। वह हमारे लिये राह साफ करती है। वह गौण है और चौकीदार का काम करती है। पर चौकीदार की अनिवार्य्य आवश्यकता समाज के काम के लिये नहीं है। वह तो केवल अव्यवस्था मिटाने के लिये है, दोषों को रोकने के लिये है। यही काम है जो बुद्धि से लिया जा सकता है। जब आप किसी ज्ञान की पुस्तक को पढ़ते हैं और जब आप उसे पढ़ चुकते हैं तब आपको जान पड़ता है कि 'धन्य है ईश्वर जिससे हम निकले हैं'। कारण यह कि बुद्धि अंधी है। उसमें आपसे आप गति कहाँ ? उसके न तो हाथ हैं न पैर। वह बोध है जिसकी गति विद्युत् वा अन्य पदार्थों से द्रुततर है। अब प्रश्न यह है कि क्या आपको बोध है ? यदि है तब तो आप भगवान् को देख सकते हैं। यह वही बोध है जो आज आपको है; वही बढ़ता जाता है, देवरूप धारण करता जाता है और उच्च अवस्था को प्राप्त हो जाता है, यहाँ तक कि सब में एक ही दिखाई पड़ता है और यहाँ तक कि ब्रह्म ही ब्रह्म सब में देख पड़ने लगता है।

बुद्धि से ऐसा हो ही नहीं सकता है। भिन्न भिन्न प्रकार से एक ही बात कहना, एक ही वाक्य के अनेक अर्थ करना, यह सब विद्वानों के विनोद की बातें है। आत्मा की मुक्ति से इनका कोई संबंध नहीं है।

आप लोगों में से जिन लोगों ने टामस ए केम्पिस (Thomas a Kempis) को पढ़ा है, वे जानते हैं कि वह कैसे प्रत्येक पृष्ठ पर इसी पर बल देता है; और संसार के सभी महात्मा इसी पर बल देते रहे हैं। बुद्धि की तो आवश्यकता अवश्य है; उसके बिना तो हम अज्ञान-गर्त में गिरते हैं और नाना भाँति की भूलें करते हैं। बुद्धि इन सबसे हमें बचाती है। पर इससे अधिक उससे आशा मत करो। वह अक्रिय है और दूसरे के सहारे सहायक होती है। सच्ची सहायता बोध से मिलती है जो प्रेम है। क्या आपको दूसरे के साथ सहानुभूति है? यदि है तो आप एकता की ओर बढ़ रहे हैं। यदि नहीं है तो आप संसार में कितने ही बुद्धिमान् क्यों न हों, पर आप कुछ नहीं हैं। आपमें केवल सूखी बुद्धि भरी है और आप ऐसे ही सदा कोरे रह जायँगे। और यदि आपमें दूसरों के साथ सहानुभूति है, आपके लिये काला अक्षर भैंस बराबर क्यों न हो, आपको बोलना तक न आता हो पर आप ठीक मार्ग पर हैं। भगवान् आप ही के होंगे।

क्या आपको इतिहास से इसका ज्ञान नहीं है कि धर्माचार्य्यों की शक्ति का आधार क्या था? क्या उसका आधार उनकी बुद्धि थी? क्या उन लोगों ने दर्शन की बड़ी बड़ी पुस्तकें

लिखीं और उनमें तर्क के बाल की खाल निकाली है ? कभी नहीं, एक ने भी ऐसा नहीं किया। उन लोगों ने बहुत ही कम कहा है। ईसा ही के अनुसार बोध रखिए, ईसा बन जाइएगा, महात्मा बुद्धदेव के समान बोधि लाभ कीजिए, बुद्धदेव हूजिएगा। स्मरण रखिए कि बोधि ही जीवन है। यही शक्ति है, यही प्राण है। बिना बोधि के कितनी ही बुद्धि क्यों न हो, ईश्वर को नहीं पा सकते। बुद्धि उस अंग के समान है जिसमें हिलने डोलने की शक्ति नहीं है। उसमें शक्ति तभी आती है जब उसमें बोधि प्रविष्ट होती है और गति देती है; तभी वह दूसरों के आश्रय से काम करती है। यही बात सारे संसार में है; और यह ऐसी बात है जिसे आपको सदा स्मरण रखना चाहिए। वेदांत के धर्म में यह बड़े ही काम की बात है; क्योंकि वेदांत की शिक्षा यह है कि आप सब महात्मा हैं और सबको महात्मा होना चाहिए। पुस्तक आपके आचरण का प्रमाण नहीं है, आप पुस्तक के लिये अवश्य प्रमाण हैं। इसका आपको ज्ञान कैसे हो कि अमुक पुस्तक में सत्य की शिक्षा है ? इसी से न कि आप सत्य हैं और आप सत्य को समझते हैं ? यही वेदांत का कथन है। संसार के ईसाओं और बुद्धों का प्रमाण क्या है ? यही न कि आप में और मैं मुझ में उन्हीं के समान बोध होता है ? यही कारण है कि आप और मैं सब जानते हैं कि वे सच्चे थे। हमारी महान् आत्मा उनकी महान् आत्मा का प्रमाण है। आपका ईश्वरपन स्वयं ईश्वर का प्रमाण है। यदि आप महात्मा न हों

तब तो ईश्वर के संबंध में कुछ सच्चा ही नहीं ठहर सकता है। यदि आप ईश्वर न होते, तो न ईश्वर कभी कहीं था और न होगा। वेदांत का कथन है कि यही आदर्श है, इसी का अनुकरण करो। हम प्रत्येक को महात्मा बनना पड़ेगा और आप स्वयं महात्मा ही तो हैं। केवल आप इसे जान जाइए। यह कभी मत समझिए कि आत्मा के लिये कुछ असाध्य है। ऐसा समझना नितांत मिथ्या है। यदि कोई पाप हो सकता है तो यही महापाप है; अर्थात् यह कहना कि हम निर्बल हैं और अन्य लोग निर्बल हैं।

## कर्म्म-योग।

### ( दूसरा भाग )

(लंदन १२ नवंबर १८९६)

मैं आपको छांदोग्य उपनिषद् की एक कथा सुनाता हूँ जिससे आपको जान पड़ेगा कि एक लड़के में ज्ञान का आविर्भाव कैसे हुआ। कथा की बनावट अत्यंत भोंडी है, पर हमें यह जान पड़ेगा कि इसमें एक सिद्धांत भरा हुआ है। एक छोटे लड़के ने अपनी माता से कहा—'मैं वेदाध्ययन करने जाता हूँ; मुझे मेरे पिता का नाम और गोत्र बतला दो।' उसकी माता विवाहिता न थी और भारतवर्ष में ऐसी स्त्री की संतान जो विवाहिता नहीं है, व्रात्य समझी जाती है। समाज के लोग उसे अधिकारी नहीं समझते और उसे वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है।

निदान बेचारी माता ने कहा–'पुत्र, मैं तेरे गोत्र को नहीं जानती। मैं यौवनावस्था में दासी कर्म करती थी और मैंने बहुतों के यहाँ काम किया। मैं यह नहीं जानती कि तेरा कौन पिता है; मेरा नाम जबला है और तेरा नाम सत्यकाम।" छोटा बालक आचार्य्य के पास गया और उपनयन करने के लिये प्रार्थना की। आचार्य्य ने उसके पिता और गोत्र का नाम पूछा। लड़के ने वही सब जो अपनी माता से सुना था, ज्यों का त्यों कह सुनाया। आचार्य्य ने सुनकर कहा—'ब्राह्मण को छोड़ इतना खरा सत्य कोई कह ही नहीं सकता। तू ब्राह्मण है और मैं तुझे वेदारंभ कराऊँगा। तू सत्य कहने में रुका नहीं।' उसने बालक को अपने आश्रम में ले लिया और उसे अध्ययन कराने लगा।

अब आगे प्राचीन काल की प्रचलित शिक्षा की अद्भुत प्रणाली आती है। आचार्य्य सत्यकाम को चार सौ दुबली और निर्बल गौएँ चराने को देकर जंगल में भेजता है। वहाँ जाकर वह कुछ काल तक रहा। आचार्य्य ने उससे कहा था कि उस समय आना जब गौओं की संख्या एक सहस्र होजाय। कई वर्ष बीतने पर सत्यकाम ने एक दिन गोष्ठी के एक बड़े वृषभ के शब्द को सुना। उसने उससे कहा–"अब हमारी संख्या एक सहस्र को पहुँच गई; हमें आचार्य्य के पास ले चलो। मैं तुमको ब्रह्म-ज्ञान की कुछ शिक्षा दूँगा।" सत्यकाम ने कहा— "बहुत अच्छा महाराज, शिक्षा दीजिए।' वृषभ बोला—'ब्रह्म का एक भाग पूर्व है, एक पश्चिम, एक दक्षिण और एक उत्तर।

चारों दिशाएँ ब्रह्म का एक एक पाद हैं। अग्नि भी तुझे ब्रह्म ज्ञान की शिक्षा देगा।' उस समय अग्नि एक बड़ी प्रतीक थी। प्रत्येक ब्रह्मचारी अग्नि की परिचर्य्या किया करता था और उसमें आहुतियाँ देता था। इस प्रकार दूसरे दिन सत्यकाम गुरु के घर चला। मार्ग में जहाँ सायंकाल हुआ, वह अग्निहोत्र करने लगा। अग्नि के पास बैठा ही था कि अग्नि उससे बोला—'सत्य-काम'। सत्यकाम ने कहा—'भगवन्, क्या कहते हैं?' संभव है कि आपको इससे प्राचीन नियम की धर्म-पुस्तक की उस कथा का स्मरण आ जाय कि सेमुअल ने कैसे अलौकिक शब्द सुना था। अग्नि ने कहा—'सत्यकाम' मैं तुम्हें ब्रह्म का कुछ उपदेश देने आया हूँ। यह पृथ्वी ब्रह्म का एक पाद है, आकाश दूसरा पाद, अंतरिक्ष तीसरा पाद और समुद्र चौथा पाद है।' फिर अग्नि ने कहा—'एक पक्षी भी तुम्हें कुछ शिक्षा देगा।' सत्य-काम आगे चला और जब वह सायंकाल का अग्निहोत्र कर चुका तो एक हंस उसके पास आया और बोला—'मैं तुझे ब्रह्म-शिक्षा दूँगा। अग्नि ब्रह्म का एक पाद है, सूर्य्य दूसरा, चंद्रमा तीसरा और विद्युत् चौथा पाद है। अब मद्गु नामक एक पक्षी तुझे ब्रह्म का और उपदेश करेगा।' दूसरे दिन सायंकाल सत्य-काम के पास मद्गु पक्षी आया और कहने लगा—'सत्यकाम, मैं तुझे ब्रह्म का उपदेश करूँगा। ब्रह्म का एक पाद प्राण है, दूसरा चक्षु, तीसरा श्रोत्र और चौथा मन है।' अब उस बालक ने आचार्य्य-कुल में आकर आचार्य्य को अभिवादन

किया। ज्यों ही आचार्य्य ने अपने अंतेवासी को देखा, उसने किया। आचार्य्य ने कहा—'सत्यकाम, तेरा मुख ब्रह्मविद् के समान चमकता है। तुझे किसने शिक्षा दी है?' सत्यकाम ने कहा—'मुझे अमानुष (देवता) ने शिक्षा दी है। पर मैं चाहता हूँ कि आप भी मुझे शिक्षा दीजिए। क्योंकि मैंने आपके सदृश आचार्य्यों से सुना है कि आचार्य्य से पठित विद्या ही फलवती होती है'। फिर तो आचार्य्य ने उसे उसी ज्ञान का उपदेश किया जो उसे देवताओं ने सिखलाया था; और कुछ भी उठा न रखा।

अब यदि उन वाक्यों से कि जिनकी शिक्षा वृषभ, अग्नि, और पक्षियों ने दी, रूपक के अंश को अलग कर दीजिए तो इस बात का स्पष्ट पता चलता है कि उस समय विचार की क्या प्रवृत्ति थी और वह प्रवृत्ति किस ओर जा रही थी। इसमें जिस ऊँचे विचार का बीज पाया जाता है, वह यह है कि सारी बातें हमारे भीतर से ही सुनाई पड़ती हैं। हम ज्यों ज्यों इस सत्य को समझेंगे, हमें जान पड़ेगा कि शब्द उसके भीतर ही से था। और ब्रह्मचारी ने समझा कि वह सदा सत्य ही को सुना करता था, पर उसका उचित समाधान न कर सका था। वह समझता था कि शब्द बाहर से आ रहा है, पर वह शब्द सदा उसके भीतर से था। दूसरी बात जो इससे हमें जान पड़ती है, यह है कि ब्रह्मज्ञान वास्तविक वा व्यावहारिक होना चाहिए। संसार सदा धर्म की व्यावहारिक

उत्पत्तियों की खोज में है; और इन कथाओं से हमें अनुमान होता है कि यह कैसे दिनों दिन व्यावहारिक हो रहा था। उन सारे पदार्थों में सत्य ही निकलता हुआ दिखलाया गया है जिनके साथ ब्रह्मचारी का संपर्क था। अग्नि जिसकी उपासना वह करता, ब्रह्म था; पृथ्वी ब्रह्म का अंश थी और इसी प्रकार औरों को भी समझ लीजिए।

दूसरी कथा उपकोशल कामलायन की है। वह सत्यकाम का अंतेवासी था। वह उसके पास वेदाध्ययन के लिये गया था और उसके यहाँ कुछ काल रहा था। सत्यकाम एक बार यात्रा करने गया। ब्रह्मचारी बड़ा ही दुखी हुआ। उसकी आचारणी ने आकर उससे कहा कि उपकोशल, तुम खाते क्यों नहीं? बालक ने कहा—मुझे बड़ा खेद है; मैं न खाऊँगा। फिर उस अग्नि से जिसकी वह परिचर्य्या कर रहा था, यह शब्द निकला कि 'यह आत्मा ब्रह्म है, आकाश ब्रह्म है और आनंद ब्रह्म है। ब्रह्म को जानो'। बालक ने उत्तर दिया कि मैं यह तो जानता हूँ कि आत्मा ब्रह्म है; पर आकाश ब्रह्म है और आनंद ब्रह्म है, यह मैं नहीं जानता हूँ। तब अग्नि ने उसे समझाया कि आकाश और आनंद एक ही पदार्थ अर्थात् चिदाकाश के बोधक हैं जो हमारे अंतःकरण में है। एवं उसने उसे यह शिक्षा दी कि ब्रह्म ही आत्मा है और ब्रह्म ही अंतःकरणगत आकाश है। अग्नि ने कहा कि पृथ्वी, अन्न, अग्नि और आकाश जिनकी हम उपासना करते हैं, ब्रह्म के रूप हैं। वह पुरुष जो आदित्य में है, वह मैं हूँ।

जो उसे जानता है और उसका ध्यान करता है, वह निष्पाप हो जाता है, दीर्घायु होता है और सुखी होता है। वह जो सब दिशाओं में, चंद्रमा, नक्षत्र और जल में रहता है, वह मैं ही हूँ। वह जो इस आत्मा में, आकाश में, अंतरिक्ष में और विद्युत् में रहता है, वह मैं हूँ। यहाँ पर भी हमें वही व्यावहारिक धर्म का भाव देख पड़ता है। इस कथा में उन्हीं पदार्थों का जिन्हें वे पूजते थे, जैसे अग्नि, सूर्य्य, चंद्र इत्यादि और शब्द का जिसे वे सुना करते थे, उल्लेख हुआ है। उन्हीं के द्वारा उच्च भावों का स्पष्टीकरण कराया गया है और उन्हीं से वे प्राप्त हुए हैं, यह दिखलाया गया है। वेदांत का यही सच्चा कर्म-कांड है। इससे संसार का नाश नहीं होता अपितु उसका स्पष्टीकरण होता है। यह पुरुष को मिटाता नहीं अपितु उसके अर्थ को समझा देता है। यह व्यक्तता को नष्ट नहीं करता किंतु उसे बोधगम्य कर देता है और वास्तविक व्यक्तता क्या है, इसे दिखला देता है। यह यह नहीं दरसाता कि संसार असार है और है ही नहीं, अपितु यह कहता है कि 'इस संसार को जानो कि यह क्या है, जिसमें यह तुम्हें हानि न पहुँचावे।' उस वाणी ने सत्यकाम से यह नहीं कहा कि अग्नि जिसकी वह पूजा कर रहा था वा सूर्य्य, चंद्र, विद्युत् आदि मिथ्या थे; अपितु उसने यह कहा कि वही आत्मा जो सूर्य्य, चंद्र, विद्युत्, अग्नि, पृथ्वी में है, उसमें है; और सब की दशा सत्यकाम की आँखों के सामने मानो फिर गई। वही अग्नि जो भौतिक अग्नि थी, जिसमें वह

आहुतियाँ दिया करता था, फिर तो कुछ और हो गया और ब्रह्मरूप हो गया। पृथ्वी का रूप बदल गया, आत्मा का रूप बदल गया, सूर्य्य, चंद्र, तारे और विद्युत् सबके रूप बदल गए और देवस्वरूप बन गए। उनका वास्तविक स्वरूप प्रकट हो गया। वेदांत का उद्देश है सबमें ब्रह्म को देखना, सबको उनके वास्तविक स्वरूप में देखना, ऐसा न देखना जैसे कि वे दिखाई पड़ते हैं।

फिर उपनिषद् में एक और उपदेश है। वह यह है कि 'वह जो आँखों में होकर चमकता है, ब्रह्म है।' वही सौम्य है* वही दिव्य है; वही सारे लोकों में प्रकाशमान है। भाष्यकार कहते हैं कि यहाँ आँख की ज्योति से अभिप्राय उस अद्भुत तेज से है जो शुद्ध पुरुष को उपलब्ध होता है। यह कहा जाता है कि जब मनुष्य शुद्ध वा पापरहित हो जाता है तो उसकी आँख में एक ज्योति चमकने लगती है और वह ज्योति उस आत्मा की है जो भीतर और बाहर सर्वत्र व्याप्त है। यह वही ज्योति है जो ग्रहों, तारों और सूर्य्यों में चमकती है।

अब मैं आपके सामने उपनिषद् के अन्य सिद्धांतों का वर्णन करता हूँ जो जन्म-मरणादि के संबंध में हैं। संभव है कि यह आपको रोचक प्रतीत हो। श्वेतकेतु पंचाल के राजा के पास गया और राजा ने उससे पूछा—'क्या तुम यह जानते हो कि लोग मर कर कहाँ जाते हैं? क्या तुम जानते हो कि वे कैसे

---

* य एषोऽक्षिणी पुरुषो दृश्यते एष आत्मा हो वाच एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म इति—छा० ८। ७। ४

लौटते हैं ? क्या तुम यह जानते हो कि यह लोक भर क्यों नहीं जाता है ?' बालक ने उत्तर दिया कि मैं नहीं जानता हूँ। फिर वह अपने पिता के पास गया और उससे वही प्रश्न किए। पिता ने कहा, मैं भी नहीं जानता; और दोनों राजा के पास गए। राजा ने कहा कि अब तक यह विद्या ब्राह्मणों को ज्ञात नहीं थी। राजा लोग ही इसे जानते थे, इसीसे वे जगत् के शासक थे। वह राजा के पास कुछ काल तक रह गया और अंत को राजा ने कहा—'अच्छा मैं तुम्हें बताता हूँ। हे गौतम, दूसरा लोक अग्नि है, आदित्य समिधा है, रश्मियाँ धूम हैं, दिन ज्वाला है और चंद्रमा अंगारा है। इस अग्नि में देवता लोग श्रद्धा की आहुति देते हैं और उससे सोम राजा उत्पन्न होता है।' इसी प्रकार वह कहता जाता है—'तुम्हें उस भौतिक अग्नि में आहुति देने की आवश्यकता नहीं। सारा संसार वही अग्नि है। यह आहुति नित्य पड़ती रहती है, पूजा नित्य होती रहती है। देवता, गंधर्व सब पूजा करते रहते हैं। मनुष्य का यह शरीर अग्नि का सबसे बड़ा प्रतीक है'। यहाँ पर भी हमें वही बात देख पड़ती है। आदर्श व्यावहारिक होता जा रहा है, सब में ब्रह्म ही देखा जाता है। इन सब कथाओं में जो सिद्धांत भरा है, वह यह है कि कल्पित प्रतीक अच्छे भले ही हों, वे उपकारी भी हों, पर फिर भी हमारे कल्पित प्रतीकों से कहीं अच्छे प्राकृतिक प्रतीक हैं। आप एक मूर्ति बना सकते हैं और उसके द्वारा ईश्वर की पूजा करते हैं और वह अच्छा भी हो सकता

है; पर उससे कहीं अच्छा, कहीं श्रेष्ठ प्रतीक वर्तमान है और वह मनुष्य का शरीर है।

स्मरण रखिए कि वेद के दो भाग हैं—कर्मकांड और ज्ञान-कांड। समय बीतने पर कर्मकांड इतना बढ़ गया था और जटिल हो गया था कि उसका सुलझाना असाध्य हो गया था। और हमें जान पड़ता है कि उपनिषद् में कर्मकांड लगभग दूर किए गए हैं, पर धीरे धीरे उन्हें समझाकर। हम देखते हैं कि प्राचीन काल में अग्निहोत्र और यज्ञादि किए जाते थे। फिर दार्शनिक लोग आए और उन लोगों ने अज्ञानी लोगों के हाथ से प्रतीकों को छीनने के स्थान में वा उनका खंडन करने के स्थान में, जैसे कि दुर्भाग्यवश आजकल के संशोधक प्रायः किया करते हैं, उन्हें और प्रतीक दे दिए। उन लोगों ने कहा—लो यह अग्नि का प्रतीक है। क्या ही अच्छा है। पर यह पृथ्वी दूसरा प्रतीक है। यह कैसा भव्य और महान् प्रतीक है। यह एक छोटा मंदिर है, पर देखो तो यह सारा विश्व कैसा अच्छा मंदिर है। मनुष्य जहाँ चाहे, उपासना कर सकता है। मनुष्य नाना प्रकार की आकृतियाँ बनाते हैं; पर देखो यह कैसी अद्भुत वेदी है—जीता जागता मनुष्य का पिंड; और इस वेदी पर पूजा करना किसी जड़ वेदी पर पूजा करने से कितना श्रेष्ठ और उत्तम है।

अब हम एक अद्भुत सिद्धांत के मत पर पहुँचते हैं। मैं इसे स्वयं नहीं समझता हूँ। मैं आपके सामने उसे पढ़े देता

हूँ। आप समझ सकें तो समझिए। "जब मनुष्य मरता है तब यदि वह तप से शुद्ध है और ज्ञान को प्राप्त कर चुका है, वह प्रकाश को प्राप्त होता है। प्रकाश से दिन को, दिन से शुक्ल पक्ष को, शुक्ल पक्ष से उत्तरायण को, उत्तरायण से संवत्सर को, संवत्सर से आदित्य को, आदित्य से चंद्रमा को, चंद्रमा से विद्युत् को और तब वह विद्युत् लोक को पहुँचता है। तब उसे दिव्य पुरुष मिलता है और वह उसे ब्रह्मलोक को पहुँचाता है।" इसे देवयान कहते हैं। जब ऋषि और ज्ञानी लोग मरते हैं, तब वे इसी मार्ग से होकर जाते हैं और लौटकर नहीं आते। इस पक्ष और वर्ष का अभिप्राय क्या है, यह किसी की समझ में नहीं आता। सब अपनी अपनी सी कहते हैं। सूर्य्य, चंद्र-लोकादि में जाने और विद्युत् लोक पहुँचकर वहाँ उस दिव्य पुरुष के मिलने का और क्या आशय है, यह किसी के ध्यान में नहीं आता। हिंदुओं में एक यह विश्वास है कि चंद्र-लोक में पितर रहते हैं; और हम यह भी देखते हैं कि चंद्रलोक से जीवन आता है। जिन लोगों को ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है पर जो अपने जीवन में शुभ कर्मों का अनुष्ठान कर चुके हैं, वे मरने पर पहले धूम को प्राप्त होते हैं, फिर रात्रि को, फिर कृष्णपक्ष को, फिर दक्षिणायन को, फिर वे पितर लोक में जाते हैं, फिर आकाश में, फिर चंद्रमा में पहुँचते हैं। वहाँ वे देव-ताओं के अन्न बनते हैं और पुनः देवयोनि को प्राप्त होकर उनके पुण्य कर्मों का जब तक क्षय नहीं होता, सुख भोगते हैं।

जब पुण्य फल का क्षय हो जाता है तब वे उसी मार्ग से पृथ्वी पर लौट आते हैं। वे पहले आकाश, फिर वायु, फिर धूप, फिर कुहरा, तब बादल होते हैं और वहाँ से मेघ की बूँद बनकर पृथ्वी पर गिरते हैं। यहाँ वे अन्न होते हैं और उनको मनुष्य खाता है; और अंत को वे उसकी संतान के रूप में जन्म लेते हैं। जिनके कर्म बहुत ही अच्छे होते हैं, वे अच्छे कुल में जन्म लेते हैं; जिनके कर्म अच्छे नहीं होते वे नीच योनि में पशु आदि के शरीर धारण करते हैं। पशु लगातार इस लोक में आते जाते रहते हैं। यही कारण है कि पृथ्वी न तो भर जाती है और न खाली ही रहती है।

इससे हम अनेक विचार निकाल सकते हैं; और अंत को संभव है कि हम आगे चलकर इसें अच्छी तरह समझने योग्य हों कि इन सब बातों का आशय क्या है। अंतिम अंश यह कि कैसे लोग स्वर्ग से लौटते हैं, संभवतः पहले अंश से अधिक स्पष्ट है। पर इन सब का तात्पर्य्य यह जान पड़ता है कि बिना ब्रह्म को जाने हुए कहीं शाश्वत सुख नहीं है। जिन लोगों को ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ है और जो इस लोक में फल की कामना से शुभ कर्म संचय कर चुके हैं, वे जब मरते हैं तब इन मार्गों से होकर जाते हैं और अंत को स्वर्ग में पहुँचते हैं। वहाँ जैसे इस लोक में होता है, देवयोनि में जन्म लेते हैं और जब तक पुण्य कर्म का भोग रहता है, जीते हैं। इससे वेदांत का यह मौलिक सिद्धांत निकलता है कि सब जिनमें नाम-रूप

की उपाधि है, क्षणिक हैं। यह पृथ्वी क्षणिक है, इसमें नाम-रूप की उपाधि है। इसी प्रकार स्वर्ग भी क्षणिक होगा क्योंकि उसमें भी नाम-रूप की उपाधि लगी है। यह बात कि स्वर्ग नित्य है, परस्पर विरुद्ध है; क्योंकि जिनमें नामरूप है, वे काल ही में उपजते, काल ही में रहते और काल ही में नष्ट हो जाते हैं। यह वेदांत का निश्चित ध्रुव सिद्धांत है। और यही कारण है कि स्वर्ग की कामना का त्याग किया जाता है।

हम संहिता में देख चुके हैं कि उनमें स्वर्ग नित्य माना गया था; और उसीसे मिलता जुलता विचार मुसलमानों और ईसाइयों में भी प्रचलित है। मुसलमानों ने उसे और स्थूल बना लिया है। उनका कथन है कि स्वर्ग में बाग है और उसके किनारे नहरें बहती हैं। अरब की मरुभूमि में पानी नहीं मिलता। वहाँ उसका बड़ा मूल्य है; इसी लिये मुसलमान यह समझते हैं कि स्वर्ग वही है जिसमें बहुत पानी हो। मेरा तो जन्म ऐसे देश का है जहाँ वर्ष में ६ महीने पानी ही बरसा करता है। मैं तो उसे स्वर्ग समझूँगा जहाँ सूखी भूमि हो; और यही अँग्रेजों को भी अभीष्ट होगा। संहिता का स्वर्ग शाश्वत है। वहाँ मृत आत्माएँ सुंदर शरीर धारण करके अपने पितरों के साथ सदा सुख से रहती हैं। वहाँ उनके माता-पिता, लड़के-बाले, इष्ट-मित्र मिलते हैं और जैसे यहाँ जीवन निर्वाह करते हैं, वैसे वहाँ भी वे अपने दिन बिताते हैं। केवल सुख कुछ विशेष होता है। यहाँ के सारे बाधा-विघ्न जो सुख-संपादन में पड़ा करते हैं,

वहाँ नहीं रहते और केवल अच्छापन और सुख रह जाता है। पर मनुष्य उसे कैसा ही सुखमय क्यों न समझता हो, सत्य और वस्तु है और सुख और है। ऐसे भी उदाहरण मिले हैं जहाँ सत्य जब तक अपनी उच्च दशा को नहीं पहुँचता है, सुखकर नहीं होता। मनुष्य का स्वभाव बहुत ही प्राचीनत्व-अनुरागी होता है। वह कुछ करता है और उसे करके उसी में पड़ा रहता है और उसका निकलना कठिन हो जाता है। उसके मन में नए विचारों के लिये जगह नहीं है क्योंकि उनके आने से उसे कष्ट होता है।

उपनिषदों में देख पड़ता है कि उन नए विचारों से निकलने के लिये कितनी दौड़धूप की गई है। यह कहा गया है कि वह स्वर्ग जिसमें मनुष्य अपने पितरों के साथ रहता है, चिरस्थायी नहीं हो सकता; क्योंकि यह देखा जाता है कि जिनके नाम-रूप है, वे सब नाशमान हैं। यदि स्वर्ग के रूप हैं तो उनका कभी न कभी नाश अवश्य होगा। वे करोड़ों वर्ष क्यों न बने रहें, पर एक समय आवेगा जब उनका नाश होना ध्रुव है। इस विचार के साथ ही यह भी विचार उदय हुआ कि जीवात्मा को पृथ्वी पर अवश्य लौटना पड़ता है। स्वर्ग वह स्थान है जहाँ लोग अपने पुण्यकर्मों के फल-भोग के लिये जाते हैं और भोग करके इसी पृथ्वी पर लौट आते हैं। यह बात इससे स्पष्ट प्रतीत होती है कि उस समय में भी मनुष्यों में परिणामवाद वा हेतु [illegible] का उदय हो गया था। आगे चलकर यह देख पड़ता

है कि उसी हेतुवाद को हमारे दार्शनिक कैसे दर्शन और तर्क की भाषा में लाए हैं। पर यहाँ वही बात बच्चों की बोलचाल की भाँति दिखाई पड़ती है। यदि आप मुझसे यह प्रश्न करें कि क्या यह उस समय व्यावहारिक था, तो मैं तो यही कहूँगा कि वह पहले व्यावहारिक था और वही पीछे दर्शन के रूप में आया है। आप देख सकते हैं कि पहले लोगों ने इन बातों को देखा है और साक्षात् किया है, फिर उन्हें लिखा है। प्राचीन विचारशीलों से इस लोक ने कहा है, चिड़ियों ने कहा है, पशुओं ने कहा है, सूर्य्य चंद्रादि ने कहा है। धीरे धीरे उन्हें वस्तुओं का ज्ञान हुआ है और वे प्रकृति के भीतर घुसे हैं। यह ज्ञान उन्हें न विचार करने से प्राप्त हुआ है न तर्क के बल से मिला है; न उन्होंने, जैसे आजकल लोग औरों की अनुभूत बातों को लेकर बड़ी बड़ी पुस्तकें लिखा करते हैं, वैसा ही किया है। और जैसे मैं आज उनके ग्रंथ को लेकर उस पर व्याख्यान दे रहा हूँ, व्याख्यान भी नहीं दिया है। किंतु यह ज्ञान यह सत्य उन लोगों ने शांतिपूर्वक अन्वेषण और परीक्षा करके प्राप्त किया है। इसकी मुख्य प्रणाली व्यवहार ही था और यही सदा रहेगा। धर्म सदा व्यवहार का ही विषय रहता है। वह न तो कभी विश्वास का विषय था और न हो सकता है। पहले कर्म होता है, पीछे ज्ञान। यह भाव कि जीवात्मा लौट आता है, यहाँ विद्यमान है। जो लोग कर्मफल की आकांक्षा से शुभ कर्म करते हैं, उन्हें उसका फल अवश्य मिल जाता है, पर वह सदा के

लिये नहीं होता। यहाँ पर भी हमें परिणामवाद वा हेतुवाद बड़े ही सुंदर रूप में दिखाई पड़ता है और कार्य्य-कारण में अनुरूपता देख पड़ती है। जैसा कारण है, वैसा ही कार्य्य होगा। यदि कारण परिमित है तो उसका कार्य्य भी परिमित ही होगा। शाश्वत कारण से ही शाश्वत कार्य्य होगा। पर स्मरण रहे कि यह सारे कारण जैसे शुभ कर्म करना इत्यादि, परिमित कारण हैं और इनसे शाश्वत कार्य्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

अब हम प्रश्न की दूसरी ओर पहुँचते हैं। जैसे कोई शाश्वत स्वर्ग नहीं हो सकता, उसी आधार पर कोई नित्य का नरक भी नहीं हो सकता। मान लीजिए, मैं बड़ा ही दुष्ट मनुष्य हूँ और मैंने सारे जीवन में पाप किया। फिर भी यहाँ का मेरा सारा जीनन शाश्वत जीवन के सामने कुछ नहीं है। अब यदि कहीं शाश्वत नरक है तो इसका अभिप्राय यह है कि परिमित कारण का अपरिमित कार्य्य है; और यह हो नहीं सकता है। यदि मैं जन्म भर शुभ कर्म करता रहूँ तो भी मुझे सदा के लिये स्वर्ग नहीं मिल सकता। ऐसा न मानना हमारी भूल है। पर एक तीसरा मार्ग है जो उन लोगों से संबंध रखता है जिन्होंने सत्य का साक्षात् किया है, जिन्होंने उसे जान लिया है। यही एक मार्ग माया से छूटने का है; अर्थात् सत्य का साक्षात् करना, और उपनिषद् बतलाती है कि सत्य के साक्षात् का क्या अभिप्राय है।

उसका अभिप्राय है कि न पाप है, न पुण्य, न भला, न बुरा। सब आत्मा पर आते जाते रहते हैं। आत्मा सब में है। इसका अर्थ है विश्व का निषेध करना, इससे आँखें मूँद लेना; और भगवान् को स्वर्ग नरक दोनों में समान देखना। अभी मैं आपको यह वचन सुना चुका हूँ कि पृथ्वी, आकाश सब ब्रह्म ही के प्रतीक, सब ब्रह्म ही हैं। उसे देखना चाहिए, साक्षात् करना चाहिए। केवल कहने और सोचने से ही काम नहीं चलेगा। हम तर्क द्वारा अनुमान कर सकते हैं कि आत्मा जब साक्षात् कर लिया जाता है और सब ब्रह्ममय हो जाता है, तब फिर इसकी चिंता क्या कि कोई स्वर्ग में जाय वा नरक में जाय। कहीं जाय, कहीं जनमे, स्वर्ग में हो वा पृथ्वी में, आत्मा के लिये यह सब निरर्थक है; क्योंकि उसके लिये सब स्थान समान हैं; सब भगवान् का मंदिर हैं; उसके लिये सब पवित्र स्थान हैं। ईश्वर, स्वर्ग, नरक सब जगह समान रूप से उसे दिखाई पड़ता है। उसके लिये न कहीं स्वर्ग है न कहीं नरक; सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म रह जाता है, वही सर्वत्र दिखाई पड़ता है।

वेदांत के अनुसार जब कोई इस प्रकार साक्षात् कर लेता है, तब वह मुक्त हो जाता है। ऐसा ही मनुष्य संसार में रहने योग्य है; और लोग इस योग्य नहीं हैं। वह मनुष्य जिसे बुराई ही दिखाई पड़ती है, भला संसार में रह ही कैसे सकता है। उसका जीवन तो आप दुःख का बोझ हो रहा है। जिसे भय दिखाई पड़ता है, उसका जीवन आप दुःखमय है।

जिसे मृत्यु दिखाई पड़ती है, उसका भी जन्म तो दुःख ही दुःख से भरा है। वही मनुष्य इस संसार में रह सकता है जो यह कह सकता हो कि मैं इस जीवन का सुख भोग रहा हूँ, मैं इस जीवन में सुखी हूँ; जो सत्य को देखता है और सब में जिसे सत्य ही दिखाई पड़ता है। क्रमशः मैं आप से यह भी कह सकता हूँ कि वेदों में नरक का भाव कहीं है ही नहीं। नरक पुराणों में आता है और बहुत पीछे। सबसे निकृष्ट दंड वेदों में पृथ्वी पर लौट आना और यहाँ आकर पुनः अवसर प्राप्त करना है। दंड और फल के विचार बहुत ही स्थूल हैं। वे उस मानव या पौरुषेय ईश्वर के ही अनुकूल हो सकते हैं जो वैसे ही एक से प्रसन्न और दूसरे से क्रुद्ध हुआ करता है जैसे हम हुआ करते हैं। दंड और फल तभी माना जा सकता है जब ऐसे ईश्वर की सत्ता स्वीकार की जाय। अपौरुषेयता का यह भाव समझ में आना बहुत ही कठिन है। मनुष्य सदा पुरुष में ही आसक्त रहते हैं। यहाँ तक कि वे लोग भी जो बड़े विचारशील समझे जाते हैं, अपौरुषेयता के भाव का नाम सुनते ही काँप उठते हैं। आप यह बतलाइए कि इन दोनों में कौन उत्कृष्ट विचार है—जीवित ईश्वर वा मृत ईश्वर? अर्थात् वह ईश्वर जिसे न कोई देखता है न जानता है; वा वह ईश्वर जो ज्ञात है?

अपौरुषेय ईश्वर जीवित ईश्वर है, वह सार है। पुरुष-विध वा पौरुषेय और अपुरुष-विध वा अपौरुषेय में अंतर यही

है कि पुरुष-विध केवल मनुष्य है और अपौरुषेय का भाव यह है कि वही देवता, मनुष्य, पशु आदि सब है; और वह भी वही है जिसे हम देख नहीं सकते। कारण यह है कि उसमें अपौरुषेयता भी आ जाती है: उसमें विश्व के सारे पदार्थ और उनके अतिरिक्त अनंत पदार्थ आ जाते हैं। जैसे एक ही अग्नि संसार में प्रविष्ट होकर भिन्न भिन्न रूपों में विभक्त हो रहा है और फिर भी अशेष बना रहता है, कुछ इसी प्रकार अपौरुषेय भी है।

हम जीवित ईश्वर की उपासना करना चाहते हैं। मैंने अपने जन्म भर ईश्वर को छोड़ किसी को देखा ही नहीं। कुरसी को देखने में आप पहले ब्रह्म को देखते हैं और फिर उसी के द्वारा आपको कुरसी दिखाई पड़ती है। वह सर्वत्र यही कह रहा है कि मैं ही हूँ। ज्यों ही आप 'अहमस्मि' में इसे समझते हैं, आपको सत्ता का ज्ञान होता है। भला जब हम उसे अपने हृदय में और सबमें नहीं देख सकते तब हम ईश्वर को कहाँ ढूँढ़ने जायँ? "तू ही पुरुष, तू ही स्त्री, तू ही लड़का, तू ही लड़की है; तू ही बुड्ढा बनकर लकड़ी टेक रहा है, तू ही युवा बनकर अपने पराक्रम से अकड़ता फिरता है। तू ही अद्भुत जीवित ब्रह्म है, तू ही सारे विश्व में सत्य है।" यह बहुतों को उस परंपरागत ईश्वर का भयानक प्रतिद्वंदी जान पड़ता है जो कहीं परदे की आड़ में बैठा है, जिसे कोई देखता नहीं। पुजारी लोग हमें विश्वास दिलाते हैं कि

यदि हम उनके अनुगामी बनें, उनकी शिक्षा मानें, उनके बतलाए मार्ग पर चलें तो वे हमें परवानगी दे देंगे और हम ईश्वर का मुँह देख सकगे। यह सब स्वर्ग की कहानियाँ क्या हैं? केवल पुरोहितों की अनर्गल बातों के रूपांतर मात्र ही तो हैं।

इसमें संदेह नहीं कि अपौरुषेयता का भाव बड़ा ही घातक है। इससे पुरोहितों, गिरजों और मंदिरों में जो दूकानदारी है, वह रह नहीं जाती। भारतवर्ष में इस समय काल पड़ा है; पर इस समय भी वहाँ ऐसे मंदिर हैं जिनमें राजाओं की आय के मूल्य के गहने आदि भरे पड़े हैं। यदि पुजारी लोगों को इस अपौरुषेयता की शिक्षा दें तो उनका सारा व्यवसाय जाता रहे। पर फिर भी वहाँ हम लोग स्वार्थत्याग करके इसकी शिक्षा देते हैं और पुजारी का ध्यान नहीं करते। आप ब्रह्म हैं, मैं ब्रह्म हूँ। कौन किसको मानता है? कौन किसकी पूजा करता है? तुम ईश्वर के बड़े मंदिर हो। मैं तो किसी मंदिर, मूर्ति वा धर्मपुस्तक को त्यागकर तुम्हारी ही उपासना करूँगा। कितने ही लोगों के विचार इतने डाँवाडोल क्यों हो रहे हैं? वे मछली की भाँति हमारे हाथों से फिसलना चाहते हैं। वे कहा करते हैं कि हम एक नहीं सुनते, कर्म करना जानते हैं। बहुत अच्छा। यह तो बतलाओ, इधर-उधर पूजा करने से तुम्हारी पूजा करना अच्छा है या नहीं? मैं तुम्हें देखता, समझता और जानता हूँ कि तुम ईश्वर के अतिरिक्त कुछ हो ही नहीं। इससे बहुतों को भय भले ही लगे पर

आप इसे धीरे धीरे समझेंगे। आपके भी जीता जागता ईश्वर है। फिर भी आप गिरजे बनाते, मंदिर बनाते और नाना भाँति की मिथ्या कल्पनाओं में विश्वास रखते हैं। वही अकेला ईश्वर पूजा करने के योग्य है जो मनुष्य की आत्मा है, मनुष्य के शरीर में है। इसमें संदेह नहीं कि सब प्राणी मंदिर हैं, पर मनुष्य सबसे बड़ा मंदिर है। वह मंदिरों का भी मंदिर है। यदि हम उसमें पूजा नहीं कर सकते तो कोई मंदिर किसी काम का नहीं हो सकता। जिस समय हम मनुष्य के शरीर-रूपी मंदिर में बैठे हुए ईश्वर को साक्षात् करते हैं, जब हम प्रत्येक मनुष्य के सामने भक्तिभाव से खड़े होते हैं और ईश्वर को उसमें देखते हैं, उस समय हमारे बंधन छूट जाते हैं। जो हमारे बंधन हैं, सब टूटकर गिर पड़ते हैं; वे रह ही नहीं जाते और हम मुक्त हो जाते हैं।

यही सारी उपासनाओं से अधिक काम की उपासना है। इसे सिद्धांत बनाने सौर विचार गढ़ने से कोई काम नहीं है। फिर भी बहुतों को इससे डर लगता है। उनका कथन है कि यह ठीक नहीं है। वे अपने उन्हीं पुराने आदर्शों पर जिन्हें बाप-दादा से सुनते आए हैं, सिद्धांत पर सिद्धांत गढ़ते जाते हैं कि स्वर्ग में कहीं कोई ईश्वर है। उसने किसी से यह कहा था कि मैं ईश्वर हूँ। उस समय से केवल सिद्धांत ही सिद्धांत बच रहा है। उनके अनुसार यही विचार उपयुक्त हैं और हमारे विचार मिथ्या हैं। वेदांत का कथन है कि इसमें संदेह नहीं,

सब अपना-अपना मार्ग रक्खें, पर मार्ग ही तो अभीष्ट स्थान नहीं है। स्वर्ग के ईश्वर की पूजा और अन्य सारी बातें बुरी नहीं हैं। वे केवल सत्य के प्राप्त करने की सीढ़ियाँ हैं, सत्य नहीं हैं। सब अच्छी हैं, सब भली हैं और उनमें अनेक अद्भुत विचार भरे हैं। पर वेदांत उनसे पग पग पर यह कहता है कि भाई, जिसकी तुम पूजा करते हो वह तो अज्ञात है; मैं तो तुम्हारे ही रूप में पूजा करता हूँ। जिसकी पूजा तुम अज्ञात समझकर रहे हो, जिसे तुम संसार में इधर उधर ढूँढ़ते फिरते हो, वह सदा तुम्हारे साथ है। तुम उसीके द्वारा जीते हो। वह विश्व का नित्य साक्षी है। 'वह जिसे सारे वेद पूजते हैं' यही नहीं जो शाश्वत् अहम् (मैं) में सदा रहता है, उसीकी सत्ता से विश्व की सत्ता है। वह विश्व का प्रकाश और जीवन है। यदि तुम में 'अहं' (मैं) न होता तो तुम सूर्य्य को देख ही न सकते; सब तुम्हारे लिये अंधकारमय होता। उसीके प्रकाश से तुम संसार को देखते हो।

एक प्रश्न प्रायः किया जाता है और वह यह है कि इससे बड़ी कठिनाई पड़ेगी। हम सब लोग यही समझने लग जायँगे कि मैं ईश्वर हूँ। जो कुछ मैं करता हूँ, अच्छा है; क्योंकि भला ईश्वर भी कहीं बुराई कर सकता है। पहले हम इस नासमझी से होनेवाले भय को मान लेते हैं; पर यह तो बतलाइए कि क्या आप सिद्ध कर सकते हैं कि इसके न होने पर वह भय न रह जायगा? लोग तो उस ईश्वर को पूजते आ रहे हैं जो

उनसे अलग स्वर्ग में रहता है और उससे वे डरते भी बहुत हैं। वे भय से काँपते हुए उत्पन्न हुए हैं और जन्म भर ऐसे ही काँपते उन्हें बीतेगा। क्या इससे संसार की दशा कुछ अच्छी हो गई? उन लोगों में जो पुरुष विशेष ईश्वर की पूजा करते हैं और उन लोगों में जो सर्वदेशी अपौरुषेय ईश्वर की पूजा करते हैं, बतलाइए कि किनमें बड़े बड़े काम करनेवाले इस संसार में उत्पन्न हुए हैं। बड़े बड़े काम करनेवाले, बड़े बड़े साहसी, इसमें संदेह नहीं कि अपौरुषेय ईश्वर के पूजनेवालों ही में हुए हैं। भला भय से कहीं साहस की उन्नति हो सकती है? नीति आ सकती है? यह असंभव है। जहाँ एक दूसरे को देखता है या दूसरे को हानि पहुँचाता है, वहाँ माया है। जब एक दूसरे को देखता नहीं, जब कोई दूसरे को हानि नहीं पहुँचाता, जब सब आत्मा ही हो गया, तब कौन किसे देखता है, कौन किसे जानता है? सब तो वही हैं। सब मैं ही हूँ। उसमें और मुझमें अंतर क्या? आत्मा तो शुद्ध हो गया। तभी हमें यह समझ में आवेगा कि प्रेम क्या है। प्रेम भय से नहीं हो सकता; इसका आधार तो स्वतंत्रता है। जब हम संसार को सचमुच प्यार करने लगेंगे, तभी हम यह समझेंगे कि सार्वदेशिक 'भ्रातृत्व' का अर्थ क्या है। इसके पहले हम उसे जान ही नहीं सकते।

अतः यह कहना ठीक नहीं है कि अपौरुषेयता के विचार से संसार में बड़ी बुराई फैलेगी। मानों अन्य प्रकार के विचारों

से संसार में कभी बुराई फैलती ही नहीं; मानों उससे सांप्रदायिक पक्षपात उत्पन्न होकर रक्त के प्रवाह से संसार को निमज्जित नहीं करता और लोगों से एक दूसरे की बोटी बोटी नहीं कराता। 'मेरा ईश्वर सबसे बड़ा ईश्वर है। इसका निबटेरा लड़कर कर लो'। यही संसार में द्वैतवाद का निचोड़ है। दिन के प्रकाश में आओ, तंग गली से बाहर निकलो। कैसे अपरिमित आत्मा तंग गली में पड़ी पड़ी नष्ट होना चाहेगी? विश्व के आलोक में आओ। संसार में सभी आपके हैं। हाथ पसारो और प्रेम से मिलो। यदि तुममें इसके करने का कभी ज्ञान उत्पन्न हो तो बस समझ लो कि तुमने ईश्वर को जान लिया।

आप बुद्धदेव के उस उपदेश की बात का स्मरण कीजिए कि कैसे भगवान् बुद्धदेव ने प्रेम का भाव दक्षिण, उत्तर, पूर्व, पश्चिम, ऊपर, नीचे सब ओर पहुँचा दिया और सारा विश्व महान् और अनंत प्रेम से परिपूर्ण हो गया। जब आपमें वह भाव आ जायगा, तब आप सच्चे महापुरुष हो जायँगे। सारा विश्व एक ही पुरुष है। छोटी बातों को छोड़ दो। अपरिमित के लिये परिमित को छोड़ो, अनंत सुख के लिये छोटे सुखों को तिलांजलि दे दो। यह सब आपका है। अपौरुषेय में पौरुषेय भरा है; अतः ईश्वर भी पुरुषविध और अपुरुषविध वा पौरुषेय और अपौरुषेय दोनों साथ ही साथ है। और मनुष्य, अनंत और अपुरुषविध मनुष्य, पुरुष के रूप में अपने को व्यक्त कर रहा है। हमने, जो अप्रमेय हैं, अपने को मानो छोटे अंशों के रूप में परिमित

बना दिया है। वेदांत कहता है कि अनंतता हमारा सत्य स्वरूप है; यह मिटेगा नहीं, सदा बना रहेगा। पर हम अपने कर्म से अपने को परिमित बना रहे हैं, मानों वह हमारे गले की रस्सी है और हमें इस परिमितत्व की ओर खींच लाई है। उस रस्सी को तोड़ डालिए और बंधन-रहित हो जाइए। उसे अपने पैरों तले रौंद डालिए। मनुष्य के स्वभाव में नियम कुछ नहीं है, भवितव्यता कुछ नहीं है, भाग्य कुछ नहीं है। भला अनंतता में भी कहीं नियम होता है? मुक्ति ही इसका स्वभाव और सत्व है। मुक्त हो लो; फिर जितना मन में आवे, व्यक्ति-निर्देश रखो। तब आप उस नट के समान खेल करेंगे जो मैदान में आता है और भिखमंगे का स्वाँग भरता है। उसे उस भीख माँगनेवाले से मिलाइए जो गली गली भीख माँगता फिरता है। दोनों के रूप एक हैं, बोली भी संभव है एक ही, पर दोनों में भेद कितना बड़ा है। एक को उस रूप में आनंद आता है और दूसरा उसी रूप में दुःख भोगता है। और इस अंतर का कारण क्या है? यही कि एक मुक्त है और दूसरा बद्ध। नट जानता है कि उसका यह रूप सच्चा नहीं है; उसने उसे स्वाँग के लिये भरा है; और भिखारी यह समझता है कि उसका वास्तविक रूप वही है और वह चाहे वा न चाहे, उसे वह रूप रखना ही पड़ेगा। यही नियम कहलाता है। जब तक हमें अपने स्वरूप का बोध नहीं है, हम भिक्षुक बने हैं; प्रकृति की ठोकरों पर ठोकर खाते हैं और बात बात में उसके दास बने रहते हैं। हम संसार में

त्राहि मां त्राहि मां चिल्लाते हैं पर कहीं से हमें कुछ भी सहारा नहीं मिलता। हम कल्पित सत्वों के सामने रोते और गिड़-गिड़ाते हैं, पर वहाँ सुननेवाला कौन है। फिर भी हमारी यह आशा नहीं छूटती कि हमें सहायता मिलेगी; और इस प्रकार रोते रोते, चिल्लाते चिल्लाते और आशा करते करते एक जन्म बीतता है, दूसरा भी बीतता है; पर वह बात ज्यों की त्यों बनी रहती है।

मुक्त बनो; किसी से कुछ आशा न करो। मुझे यह विश्वास है कि यदि आप अपने जीवन पर ध्यान देंगे तो आपको जान पड़ेगा कि आप सदा दूसरों से सहायता माँगते रहे हैं, पर वह कभी नहीं मिली है। जो सहायता मिली है, वह आपके भीतर से मिली है। आपको अपने कर्म का ही फल मिला; पर फिर भी आप दूसरों से सहायता पाने की आशा करते रहे हैं। बड़े आदमियों का दीवानखाना सदा लोगों से भरा रहता है। पर यदि आप ध्यान करके देखें तो सदा वही लोग नहीं मिलेंगे। आनेवाले सदा यह आशा करते रहते हैं कि उन्हें उनसे कुछ मिलेगा; पर वे कभी नहीं पाते हैं। इसी प्रकार हमारा जीवन आशा ही आशा में बीत जाता है; पर आशा पूरी नहीं होती। वेदांत कहता है कि आशा छोड़ो। आप आशा क्यों करते हैं? आपके पास सब कुछ है। यही नहीं, आप ही तो सब कुछ हैं। आप आशा किस बात की करते हैं? यदि कोई राजा पागल हो जाय और अपने राज्य भर में राजा को ढूँढ़ता

फिरे, तो उसे कभी राजा नहीं मिलेगा। कारण यह है कि राजा तो वह स्वयं है। वह अपने राज्य में गाँव गाँव फिरे, घर घर ढूँढ़े, चारों ओर रोता चिल्लाता फिरे, पर राजा उसे न मिलेगा। कारण यह है कि राजा तो वह आप ही है। यह अच्छा है कि आप हमें जान जायँ कि हम ईश्वर हैं और उसे व्यर्थ ढूँढ़ने की बात छोड़ दें। यह जानकर कि हम ईश्वर हैं, हमें सुख और शांति मिलेगी। यह सब पागलपन की बात त्यागो और विश्व में अपना नाट्य, जैसे रंगभूमि में नट अपने खेल करते हैं, करो।

सारा दृश्य बदल जाता है और यह संसार नित्य का बंदीगृह न होकर रंगभूमि बन जाता है। स्पर्धा का लोक होने के स्थान में यही आनंद का लोक हो जाता है, जहाँ सदा वसंत ऋतु बनी है, फूल खिल रहे हैं और भ्रमर गुंजार कर रहे हैं। यही संसार जो पहले नरक था, अब स्वर्ग हो जाता है। बद्ध पुरुषों की दृष्टि में यह घोर दुःख का स्थान दिखाई पड़ता है, पर मुक्त पुरुष की आँखों में वही कुछ और ही देख पड़ता है। यह एक जीवन विश्व का जीवन देता है; स्वर्गादिलोक सब यही है। मनुष्य के आदर्श सब देवता यहाँ हैं देवताओं ने मनुष्य को अपनी अनुहार पर नहीं रचा, अपितु मनुष्य ने देवताओं की रचना की। और यही आदर्श है, यही इंद्र है, यही वरुण है और विश्व के सारे देवता यहीं हैं। हम ही तो अपने क्षुद्र भ्रमों को बाहर लाए हुए थे, हम ही तो इन देवताओं के मूल हैं, हम ही तो सत्य हैं, हम ही पूजनीय देवता हैं। यही वेदांत का विचार

है; यही कर्मण्यता है। जब हम मुक्त हो गए तो हमें इसकी आवश्यकता नहीं है कि घरबार छोड़ छोड़कर जंगल में भाग जायँ और वहाँ कंदराओं में पड़े पड़े मरें। जहाँ हम थे, हम वहीं रहें; इसमें कुछ धरा नहीं है। केवल हमें सारे पदार्थों के रहस्य जानने से काम है। बातें सब वही रहेंगी, पर उनका भाव नया हो जायगा। हमें संसार का अब तक ज्ञान नहीं है। स्वतंत्रता के कारण, स्वतंत्रता के द्वारा हम देखते हैं कि वह क्या है और उसके स्वरूप को समझते हैं। हमें तब यह सुझाई पड़ेगा कि जिसे नियम, भवितव्यता, वा भाग्य कहते हैं, वह हमारे स्वरूप के एक अणु मात्र पर था; यह तो एक अंश में था और शेष सदा निर्लेप और मुक्तिस्वरूप था। हमें इसका ज्ञान नहीं था। यही कारण था कि हम अपना मुँह शिकार के खरगोश की भाँति भूमि में छिपाकर अपने बचाने के निमित्त प्रयत्न करते रहे। भ्रम के कारण हम अपने स्वरूप को भूलने की चेष्टा कर रहे थे; पर हम ऐसा कर न सके। यह हमें सदा चैतन्य करता रहा और देवताओं वा ईश्वर वा बाहरी स्वतंत्रता की खोज में सारी दौड़धूप हमारे वास्तविक स्वरूप ही की खोज में थी। हमने वाणी को समझा नहीं। हमने सोचा कि वह अग्नि की, देवता की, सूर्य्य की, चाँद की वा तारों की थी; पर अंत को हमें यह जान पड़ा कि वह हमारे भीतर से आई थी। हमारे भी नित्य वाणी है। वह शाश्वत स्वतंत्रता के लिये पुकार रही है। उसका राग नित्य है; उसके बाजे सदा बजते रहते हैं।

आत्मा के संगीत का एक अंश पृथ्वी बन गया। नियम कहो वा विश्व कहो, पर यह हमारा और सदा हमारा ही रहेगा। संक्षेपतः वेदांत का आदर्श है—मनुष्य को जानना कि सचमुच वह है क्या। यही उसका संदेश है कि यदि आप अपने भाई मनुष्य की पूजा नहीं कर सकते जो व्यक्त ईश्वर है, तो आप कैसे उस ईश्वर को पूज सकेंगे जो अव्यक्त है?

क्या आपको स्मरण नहीं है कि इंजील में क्या कहा है? "यदि आप अपने पड़ोसी से प्रेम नहीं कर सकते जिसे आपने देखा है, तो आप ईश्वर से कैसे प्रेम कर सकते हैं जिसे आपने देखा ही नहीं।" यदि आप ईश्वर को मनुष्य के रूप में नहीं देख सकते तो आप बादलों में वा जड़ भौतिक पदार्थों की बनी हुई मूर्तियों में अथवा अपने मानसिक कल्पित ध्यान में ईश्वर को कैसे देख सकते हैं? मैं आपको उसी दिन से धर्मात्मा कहना आरंभ करूँगा जब आप प्रत्येक स्त्री पुरुष में ईश्वर को देखने लग जायँगे; और तभी इस वाक्य का अर्थ आपकी समझ में आ जायगा कि "यदि कोई तुम्हारे बाएँ गाल पर थप्पड़ मारे तो दाहिना भी उसके आगे कर दो।" जो कुछ तुम्हारे आगे आता है, वही नित्य आनंदघन ईश्वर है जो नाना रूपा में पिता, माता इष्टमित्र ,आदि के रूप में हमें दिखाई पड़ रहा है। वे सब हमारे ही आत्मा हैं जो हमारे साथ खेल रहे हैं।

जैसे जैसे हमारे मानवी संबंधी अर्थात् माता-पिता आदि

देवरूप होते जाते हैं, वैसे वैसे हमारा ईश्वर के साथ संबंध घनिष्ट होता जाता है और हम उसे मातापिता, इष्टमित्रादि की दृष्टि से देख सकते हैं । ईश्वर को माता कहना उसे पिता कहने से कहीं श्रेष्ठ है: उसे मित्र कहना बहुत अच्छा है; पर उसे अपना प्रियतम कहना सर्वोत्तम है। सबसे उत्तम भाव तो वह है कि प्रेमी और प्रियतम में अभेद देख पड़े। आपको एक पुरानी फारसी की कहानी का स्मरण होगा कि प्रेमी अपने प्रियतम के द्वार पर आया और किवाड़ खोलने के लिये खट-खटाने लगा । भीतर से शब्द आया, कौन है ? उसने उत्तर दिया कि 'मैं हूँ' । किवाड़ न खुला । वह फिर खट-खटाने लगा। फिर भीतर से शब्द आया कि कौन है। उसने फिर कहा, मैं हूँ। पर फिर भी किवाड़ न खुला। वह तीसरी बार आया और किवाड़ खटखटाने लगा। भीतर से फिर वही शब्द आया कि कौन है ? अब की बार उसने कहा 'प्रीतम' मैं तो तू ही हूँ' और किवाड़ खुला । यही दशा हमारे ईश्वर के साथ संबंध की है। वह सब में है और सब वही है। सब स्त्री-पुरुष साक्षात् ईश्वर हैं, जीते-जागते ईश्वर । यह कौन कहता है कि ईश्वर अज्ञात है? कौन कहता है कि उसे ढूँढ़ना है? हमने तो ईश्वर को सदा से पा लिया है। हम उसमें सदा से रहते आ रहे हैं। चारों ओर वह सदा से ज्ञात है, सदा से उसी की पूजा हो रही है।

अब एक और बात है। वह यह कि पूजा की नाना विधियाँ

मिथ्या नहीं हैं। यह बात स्मरण रखने योग्य है कि ईश्वर की पूजा की रीति, प्रतीकादि चाहे जितनी भोंडी और असभ्योचित क्यों न हो, मिथ्या नहीं है, भूल की बात नहीं है। वे सत्य से सत्य की ओर जाने के मार्ग हैं, नीचे से ऊँचे चढ़ने की सीढ़ियाँ हैं। अंधकार से प्रकाश में जाने की राहें हैं। कम भला ही बुरा है; कम शुद्ध ही अशुद्ध है। हमें इसका सदा ध्यान रखना चाहिए कि हम दूसरों को प्रेम की दृष्टि से देखें; यह जानते हुए उन्हें सहानुभूति की दृष्टि से देखें कि वे सब उसी मार्ग को जा रहे हैं जिससे हम जाते हैं और गए हैं। यदि आप मुक्त हैं तो आप इसे निश्चय समझें कि सब कभी न कभी मुक्त होंगे। यदि आप मुक्त हैं तो आप अशुद्ध कैसे हो सकते हैं? क्योंकि जो भीतर है वही बाहर है। हमें अशुद्धि तब तक न दिखाई पड़ेगी जब तक हमारे भीतर अशुद्धि न हो। वेदांत का यही कर्मकांड है। हम सबको अपने जीवन में इसके अनुष्ठान करने का प्रयत्न करना चाहिए। हमारा सारा जन्म इसी कर्म के लिये है। पर एक और बड़ी बात जो हमें इससे प्राप्त होती है, वह यह है कि हम तभी अशांति और असंतोष को छोड़ शांति और संतोषपूर्वक कर्म कर सकेंगे जब हम यह समझ लें कि हमारे भीतर सत्य है। यही हमारा स्वरूप है; हमें केवल इसको व्यक्त करना, सुस्पष्ट कर देना है।

---

# कर्म्म-वेदांत ।

## तीसरा भाग ।

( लंदन—१७ नवंबर १८९६ )

छांदोग्योपनिषद् में एक कथा है कि नारदजी सनत्कुमार के पास गए और उन्होंने अनेक प्रश्न किए, उन्हीं में से एक यह भी है कि क्या सारे पदार्थों की स्थिति धर्म से है? सनत्कुमारजी ने नारद को धीरे धीरे, जैसे कोई बालक को सीढ़ी पर हाथ पकड़कर चढ़ाता हुआ ले जाय, उस विषय को समझाया है। उन्होंने कहा कि पृथ्वी से अमुक श्रेष्ठ है, अमुक से अमुक, और इस प्रकार वे आकाश तक पहुँचे । वे कहते हैं कि आकाश प्रकाश से श्रेष्ठ है, क्योंकि सूर्य्य, चंद्र, विद्युत्, तारे सब आकाश में ही हैं; हम आकाश में रहते हैं और नष्ट होकर आकाश ही में मिल जाते हैं। फिर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या आकाश से भी कुछ श्रेष्ठ है। सनत्कुमारजी ने कहा—वेदांत के अनुसार प्राण जीवन का हेतु है। आकाश के समान प्राण भी सर्व-व्यापक है। सारी गति जो शरीर में वा और कहीं होती है, प्राण ही के कारण होती है। वह आकाश से भी श्रेष्ठ है। सब प्राणी प्राण ही से जीते हैं । प्राण ही माता में, पिता में, भाई में, बहिन में और आचार्य्य में है। प्राण ही सबका ज्ञाता है।

अब मैं आपको एक और बात सुनाता हूँ। श्वेतकेतु ने अपने पिता से सत्य की जिज्ञासा की। पिता ने बहुत से पदार्थों

के नाम लेकर अंत में कहा—'जो हम सब पदार्थों का सूक्ष्म कारण है वही सबका कारण है, वही सब कुछ है, वही सत्य है; हे श्वेतकेतु, वह तू है'। फिर उसने अनेक दृष्टांत दिए। कहा—'हे श्वेतकेतु, मधुमक्खी अनेक फूलों से रस लाती है। भिन्न भिन्न फूलों के रस यह नहीं जानते कि वे भिन्न भिन्न वृक्षों और भिन्न भिन्न फूलों के हैं। इसी प्रकार हम लोग उस सत्ता में पहुँचकर यह नहीं जानते कि हमने यह किया है। यही सत्य है। यही आत्मा है। हे श्वेतकेतु वह तू है।' उसने दूसरा दृष्टांत नदी का दिया। कहा कि नदियाँ बहकर समुद्र में जाती हैं; और वहाँ वे यह नहीं जानतीं कि हम भिन्न भिन्न हैं। इसी प्रकार जब हम उस सत्ता में पहुँचते हैं तब हम यह नहीं जानते कि हम कौन हैं। हे श्वेतकेतु वह तू है। इसी प्रकार वह उसे शिक्षा देता है।

अब ज्ञान प्राप्त कराने की दो रीतियाँ हैं। एक यह कि विशेष से सामान्य और सामान्य से विश्वव्यापक ज्ञान प्राप्त कराना। दूसरा यह है कि जिसे समझाना हो, उसके स्वरूप से ही जहाँ तक संभव हो, समझा देना। अब पहली रीति के अनुसार हम देखते हैं कि हमारा ज्ञान एक नहीं है, अपितु अनेक है जो ऊँचे से ऊँचा होता गया है। जब कोई एक बात होती है तब हम घबरा जाते हैं। पर जब यह होता है कि वही बात बार बार होती जाती है, तब हमें संतोष हो जाता है और हम उसे नियम कहने लगते हैं। हम जब देखते हैं कि एक सेब डाल से टूटकर गिरा, तब हम चौंक पड़ते हैं। पर जब हम देखते हैं

कि सब सेब डाल से अलग होकर गिर पड़ते हैं, तब हम उसे गुरुत्व का नियम कहते हैं और हमें संतोष हो जाता है। बात यह है कि विशेष ज्ञान से हमें सामान्य ज्ञान प्राप्त होता है।

हमें चाहिए कि जब हम धर्म पर विचार करने लगें, तब उन्हीं वैज्ञानिक नियमों को काम में लावें। वही नियम इस काम के लिये भी ठीक हैं। बात तो यह है कि देखने से हमें जान पड़ता है कि सब जगह उन्हीं नियमों से काम लिया गया है। इन पुस्तकों के देखने से, जिनका आशय मैंने आपके सामने प्रकट किया है, जो बात हमें सबसे प्राचीन जान पड़ती है वह यही है कि 'विशेष से सामान्य ज्ञान की प्राप्ति होती है'। हम देखते हैं कि कैसे देवता लोग ( प्रकाशमान ) मिलकर एक तत्व बन गए। इसी प्रकार विश्वविधान पर विचार करते हुए वे ऊँचे से ऊँचे पहुँचे हैं—( स्थूल ) द्रव्य से तन्मात्रा को और इससे वे व्यापक आकाश को, उससे वे सर्वव्यापक शक्ति प्राण को पहुँचे हैं। इन सब में वही बात पाई जाती है कि एक दूसरे से पृथक् नहीं हैं। आकाश ही सूक्ष्म रूप होकर प्राण था वा यों कहिए कि प्राण ही स्थूल होकर आकाश हुआ; और वही आकाश क्रमशः अधिक अधिक स्थूल होता गया।

पुरुषविध ईश्वर का सामान्यवाद उद्देश की दृष्टि से दूसरा विषय है। हम देख चुके हैं कि इस सामान्यवाद का ज्ञान कैसे हुआ और पूर्ण चेतनराशि को ईश्वर कहा गया है। पर एक कठिनाई पड़ती है। इस सामान्यवाद में अव्याप्ति दोष है। हम

प्रकृति के केवल एक अंश को ले लेते हैं अर्थात् चेतन मात्र को और उसी पर सामान्यवाद से काम लेते हैं; और दूसरे अंश को छूते नहीं। अतः इसमें पहले तो यह सामान्यवाद ही दोषग्रस्त है। इसमें एक और दोष है और वह रीति वा नियम से संबंध रखता है। प्रत्येक पदार्थ का बोध उसके स्वरूप से होना चाहिए। संभव है कि कुछ ऐसे लोग भी रहे हों जिनका विचार यह था कि सेब जो भूमि पर गिरते हैं, उन्हें कोई भूत खींच लेता है। पर बात गुरुत्व के ही नियम की थी। यद्यपि हम जानते हैं कि यह यथार्थ लक्षण नहीं है, पर फिर भी यह दूसरे से कहीं अच्छा है। कारण यही है कि यह वस्तु के स्वरूप के आधार से प्राप्त हुआ है; और दूसरे का आधार बाह्य कारण है। यही अवस्था हमारे सारे ज्ञानों की है। वह लक्षण जो वस्तु के स्वरूप के आधार पर किया जाता है, युक्त और व्यापक होता है; और जो लक्षण बाह्य कारणों के आधार पर किया जाता है, वह दोषग्रस्त और अयुक्त होता है।

अब पुरुषविध ईश्वर के जगत्कर्तृत्व की परीक्षा करनी है। यदि वह ईश्वर प्रकृति वा संसार से अलग है, इससे उसका कुछ संबंध नहीं है और यह जगत् उसकी आज्ञा से उत्पन्न हुआ है, तो यह सिद्धांत अत्यंत अयुक्त और दोषग्रस्त है; और सारे विश्वासमूलक धर्मों में सदा से यही दोष रहा है। सारे एकेश्वरवाद धर्म्म में—जिनमें पुरुषविध ईश्वर माना गया है—जिनमें मनुष्य के ही गुण अधिक झाड़ पोंछकर भरे गए हैं—ये

दो दोष हैं। उस ईश्वर ने शून्य से वा अपनी इच्छा से इस जगत् की रचना की और वह इससे पृथक् है। इससे दो कठिनाइयाँ पड़ती हैं।

जैसा कि हम देख चुके हैं, यह पर्य्याप्त सामान्यवाद नहीं है; और दूसरी बात यह है कि स्वरूप का यह लक्षण स्वरूप के आधार पर नहीं है। इसमें यह मान लिया गया है कि कार्य्य कारण से अलग है। पर मानवी ज्ञान यह बात प्रकट करता है कि कार्य्य कारण का रूपांतर मात्र है। इसी विचार की ओर सारे आधुनिक विज्ञान की प्रवृत्ति हो रही है और सबसे अंतिम सिद्धांत जिसे लोगों ने स्वीकार किया है, वह विकास-वाद का सिद्धांत है जिसका मूल सिद्धांत यह कि कार्य्य कारण ही का रूपांतर है; कारण का विकारभूत और कारण ही कार्य्य का रूप धारण करता है। यह सिद्धांत कि असद् से सृष्टि हुई, आजकल वैज्ञानिकों की दिल्लगी की बात हो रही है।

अब प्रश्न यह है कि क्या धर्म इस परीक्षा को सह सकता है? यदि धर्म का कोई ऐसा सिद्धांत हो जो इस आँच को सह सके तो आजकल लोग, जो विचारशील हैं ऐसे ही धर्म को स्वीकार करेंगे। और दूसरे सिद्धांत जिन पर लोगों से विश्वास करने के लिये इस कारण कहा जाय कि पुजारी उसे मानने के लिये कहते हैं, संप्रदाय के लोग उसे मानने की आज्ञा देते हैं, पुस्तकों में लिखे हैं, तो इसका परिणाम यह होगा कि कोई उन्हें मानेगा नहीं और सब हँसी में उड़ा देंगे। यहाँ तक कि जिन

पर लोग ऊपर से बड़ी श्रद्धा प्रकट करते हैं, यदि यथार्थ में देखा जाय तो उनके अंतःकरण में उन पर बड़ी ही अश्रद्धा रहती है। और कुछ लोगों को तो धर्म का नाम सुनते ही मानो कँपकँपी आ जाती है और वे यह कहकर उसका तिरस्कार करते हैं कि यह केवल पुजारियों के ढकोसले हैं।

धर्म को लोगों ने एक प्रकार से जातीयता का रूप दे रखा है। यह सामाजिक बात है जो बच रही है। इसे पड़ा रहने दीजिए। पर धर्म की वह आवश्यकता जो आधुनिक मनुष्यों के पूर्वजों ने समझी थी, नहीं रह गई है। अब लोगों को वे बातें युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होतीं। अब पुरुष-विशेष ईश्वर और उसके स्रष्टा होने की बात जो प्रायः एकेश्वरवाद के नाम से विख्यात है, ठहर नहीं सकती। भारतवर्ष में तो वह वाद बौद्धों के मारे ठहर नहीं सका था और यही विषय था जिसमें प्राचीन काल में उन्हें विजय प्राप्त हुई थी। उन लोगों ने सिद्ध कर दिया कि यदि हम यह मान लें कि प्रकृति में अनंत शक्ति है और वह अपना सारा काम चला सकती है, तो इस बात पर बल देना अनावश्यक है कि प्रकृति से परे भी कुछ और है। और की बात तो अलग, आत्मा की भी आवश्यकता नहीं है।

द्रव्य और गुण के संबंध में भी जो विवाद है वह बड़ा पुराना है और आपको कभी कभी यह जान पड़ेगा कि पुराना पक्षपात आज तक चला जाता है। आप लोगों में कितनों ने

पुस्तकों में पढ़ा होगा कि माध्यमिक काल में, और दुःख से कहना पड़ता है कि उसके बहुत पीछे तक भी, यह शास्त्रार्थ का एक विषय था कि द्रव्य गुण का आधार है वा नहीं, लंबाई, चौड़ाई और मोटाई, जिसे जड़ प्रकृति कहते हैं, द्रव्य है वा नहीं। द्रव्य स्थायी है, गुण रहे वा न रहे। इस पर बौद्धों का कथन है—"ऐसे द्रव्य के सिद्ध करने के लिये कोई हेतु नहीं है। गुण ही तो सब कुछ है। आपको गुण के अतिरिक्त बोध किसका होता है ?" यही हमारे बहुत से संशयवादियों का भी पक्ष है। क्योंकि यही द्रव्य और गुण का झगड़ा और ऊँचे जाकर अचल और चल के वाद का रूप धारण कर लेता है। संसार परिवर्तनशील है, यह नित्य बदलता रहता है। इसके परे कुछ ऐसा है, जो परिवर्तनशील नहीं है। इस चल और अचल की द्वैत सत्ता को कुछ लोग सत्य मानते हैं और अन्य लोग उससे प्रबल युक्ति के आधार पर कहते हैं कि हमें यह कहने का अधिकार नहीं है कि दो सत्ताएँ हैं। कारण यह है कि हम जो देखते, जानते और विचारते हैं, वह सब चल वा परिवर्तनशील है। यह कहने का आपको अधिकार नहीं कि इस चल वा परिवर्तनशील से परे भी कुछ है। इसका उनके पास कोई उत्तर नहीं है। इसका उत्तर यदि कहीं मिल सकता है तो वेदांत में मिल सकता है। वह यह है कि आपका यह कहना ठीक है कि एक है और वही एक चाहे परिवर्तनशील हो वा चल हो वा अचल। पर यह बात कभी ठीक

नहीं है कि दो हैं; एक तो परिवर्तनशील है और उसके भीतर कोई और घुसा है जो अचल और व्यापक है। यह एक ही है जो परिवर्तनशील दिखाई पड़ता है पर सचमुच वह परिवर्तनशील नहीं है। हम लोग शरीर, मन और आत्मा को पृथक् मानते आ रहे हैं; पर वास्तव में वे एक ही हैं और वही एक अनेक रूपों में भासमान हो रहा है। वेदांत के प्रसिद्ध दृष्टांत रज्जु और सर्प को लीजिए। कोई अंधकार के कारण या अन्य कारणवश, भ्रम से रज्जु को सर्प समझता है। पर जब उसे ज्ञान हो जाता है, तब साँप जाता रहता है और रज्जु देख पड़ती है। इस दृष्टांत से यह निश्चय होता है कि जब मन में साँप था, तब रस्सी नहीं थी; और जब मन में रस्सी है, तब साँप नहीं रहा। जब हम चारों ओर चल ही चल देखते हैं तब हमारा मन 'अचल' नहीं रहता। पर जब हमें अचल और एकरस देख पड़ता है तब यह उपपत्ति निकलती है कि अचल नहीं रहा है। अब आपने दोनों सद् और असद्वादियों का पक्ष समझ लिया होगा। सद्वादी केवल चल को देखते हैं और असद्-वादी अचल को। क्योंकि असद्वादी और सच्चे असद्वादी के लिये जिसे सचमुच प्रत्यक्ष करने की शक्ति उत्पन्न हो गई हो और जिसके द्वारा उसके परिणाम के सब भाव जाते रहे हों, परिवर्तनशील विश्व नहीं रह जाता है, वह कहने का सर्वथा अधिकार है कि सब भ्रम की बातें हैं, कहीं कुछ परिवर्तन नहीं है। सद्वादी को परिवर्तन ही परिवर्तन दिखाई

पड़ता है। उसके लिये अचल रह ही नहीं जाता है और उसे भी यह कहने का अधिकार है कि सब सद् है।

इस दर्शन का निचोड़ क्या है? यही कि पुरुष-विशेष ईश्वर का भाव पर्य्याप्त नहीं है। हमें उससे कुछ और आगे जाना है और वह अपौरुषेयता का भाव है। यही तर्क की एक युक्ति है जिसका हमें आश्रय लेना चाहिए। इससे ईश्वर की पौरुषेयता नष्ट नहीं होती, और न उसे प्रमाणित करने के लिये प्रमाण ही दिया जाता है; अपितु हमें पौरुषेय के समझने के लिये अपौरुषेय को स्वीकार करना पड़ता है। कारण यह कि अपौरुषेय का भाव पौरुषेय की अपेक्षा अधिक उच्च सामान्यवाद है। अपौरुषेय ही अनंत हो सकता है, पौरुषेय तो सांत है। इस प्रकार हम पौरुषेय के पोषक हैं, उसके नाशक नहीं। प्रायः यह शंका होती है कि यदि हम अपौरुषेयता को स्वीकार करते हैं तो पौरुषेयता नष्ट हो जायगी; यदि हम अपौरुषेय मनुष्य को मानें तो व्यक्तता जाती रहेगी। पर वेदांत का विचार व्यक्तता नष्ट करने का नहीं अपितु उसकी रक्षा करने का है। हम व्यक्त को दूसरे प्रकार से सिद्ध ही नहीं कर सकते। उसकी जब सिद्धि होगी तब विश्व के संबंध से ही होगी; अर्थात् यह सिद्ध करने से कि व्यक्त वास्तव में विश्व ही है। यदि हम व्यक्त को इस सारे विश्व से अलग समझें तो वह क्षण भर भी नहीं रह सकता। ऐसा पदार्थ कभी रहा ही नहीं।

इसके अतिरिक्त अब दूसरी रीति को—अर्थात् इसे कि सब

का ज्ञान उनके स्वरूप से कराया जाना चाहिए—काम में लाने से हम और उत्कृष्ट विचार पर पहुँचते हैं, ऐसे विचार पर जिसका समझ में आना बहुत कठिन है। वह इससे अधिक संक्षेप से नहीं कहा जा सकता है कि अपौरुषेय सत्ता सर्वोच्च सामान्य-वाद भी है और हम भी वही हैं। 'तत्त्वमसि श्वेतकेतौः' वह अपौ-रुषेय वा व्याप्य सत्ता तुम ही हो। वह ईश्वर जिसे आप सदा विश्व भर में ढूँढ़ते फिरते हैं, सदा से आप ही हैं—व्यक्ति-विशेष वा पौरुषेय की दृष्टि से नहीं, अपौरुषेय की दृष्टि से। मनुष्य जिसका हमें ज्ञान है अर्थात् व्यक्त, वह पुरुष रूप में है; पर उसकी सत्ता अपौरुषेय है। पौरुषेय के समझने के लिये हमें अपौरुषेय को जानना चाहिए। विशेष के लिये सामान्य का ज्ञान अपेक्षित है। वही अपौरुषेय सत्य है, वही मनुष्य की आत्मा है।

इसके संबंध में अनेक प्रश्न होंगे और ज्यों ज्यों मैं आगे चलता जाऊँगा, उनके उत्तर देने का प्रयत्न करूँगा। अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ पड़ेंगी; पर सबसे पहले हमें वेदांत के पक्ष को समझने की आवश्यकता है। व्यक्त रूप में तो हमारी सत्ता अलग दिखाई पड़ती है, पर वास्तविक रूप में हमारी सत्ता एक ही है; और जितना हम अपने को उस एक से कम अलग समझें, उतना ही अच्छा है। जितना ही अधिक हम अपने को उससे अलग समझते हैं, उतना ही अधिक हम दुःखी होते हैं। वेदांत के इसी सिद्धांत से हम आचार के मूल पर पहुँचते हैं और यह कहने का साहस कर सकते हैं कि हमें अन्यत्र से आचार

की कुछ भी उपलब्धि नहीं हो सकती। हम इसे जानते हैं कि आचार का प्राचीन भाव था किसी वा कुछ व्यक्ति-विशेष की आज्ञा का पालन होना; पर आजकल इसे बहुत कम लोग मानेंगे। कारण यह है कि यह केवल एकदेशी सामान्यवाद है। हिंदू कहते हैं कि हम यह या वह न करेंगे क्योंकि वेदों में तो ऐसा लिखा है; पर ईसाई अलग मानने को उद्यत नहीं हैं; क्योंकि इंजील में कुछ और है। उसे तो वे ही लोग मान सकते हैं जो इंजील को न मानते हों। पर हमें एक ऐसे सिद्धांत की आवश्यकता है जो इतना विस्तृत हो कि उसके पेट में सब बातें आ जायँ। जैसे संसार में ऐसे करोड़ों लोग हैं जो पुरुष-विशेष ईश्वर को मानने के लिये उद्यत हैं, वैसे ही सहस्रों ऐसे बुद्धिमान् भी संसार में हो गए हैं जिन्हें यह सिद्धांत पर्य्याप्त नहीं जान पड़ा था और जो किसी और उच्च ज्ञान के जिज्ञासु थे। अतः धर्म में इतना अधिक अवकाश नहीं था कि वे बुद्धिमान् लोग उसमें रह सकते। परिणाम यह हुआ है कि उन महात्माओं को समाज में रहते हुए भी धर्म्म से पृथक् रहना पड़ा है। और ऐसी अवस्था तो कहीं कभी न रही होगी जैसी कि आज युरोप में हो रही है।

ऐसे लोगों को अवकाश देने के लिये धर्म को अधिक विस्तृत और व्यापक होना चाहिए। सब धर्मों की बातों की जाँच तर्क की दृष्टि से होने की आवश्यकता है। यह समझ में नहीं आता कि धर्म यह क्यों चिल्ला रहे हैं कि हमारे लिये यह

आवश्यक नहीं है कि हमारी जाँच तर्क से की जाय। यदि कोई तर्क से ठीक काम न ले, तो उचित निर्णय हो ही नहीं सकता। और बातों की तो कथा ही क्या, धर्म में भी ऐसा होना असंभव है। एक धर्म किसी महा घृणित कर्म करने की आज्ञा दे सकता है। उदाहरण के लिये मुसलमान धर्म को ले लीजिए। उसमें आज्ञा है कि विरुद्ध धर्मवालों को मारो। कुरान में यह स्पष्ट कहा गया है कि काफिरों को, अगर मुसलमान न हों तो, कतल करो। उन्हें आग में डालो और तलवार के नीचे करो। अब यदि किसी मुसलमान से कहा जाय कि यह ठीक नहीं है तो वह यह प्रश्न कर सकता है कि यह आप कैसे जानते हैं? आपको इसका ज्ञान कैसे हुआ कि यह ठीक नहीं है? मेरी पुस्तक में तो ऐसी ही आज्ञा है। यदि आप कहें कि हमारी पुस्तक पुरानी है, तो बौद्ध लोग आकर कहते हैं कि हमारी पुस्तक कहीं पुरानी है। फिर हिंदू आकर कहते हैं कि हमारी पुस्तक सबसे पुरानी है। अतः पुस्तक के आधार पर निर्णय करना ठीक नहीं है। फिर वह आधार कौन है जिस पर जाँच करेंगे? ईसाई कहेंगे कि पर्वत पर की शिक्षा को देखो; मुसलमान कहेगा, कुरान के उपदेश पर ध्यान दो। मुसलमान कहेंगे कि इस विषय में मध्यस्थ कौन होगा कि हम दोनों में कौन अच्छा है? मध्यस्थ तो न कुरान हो सकता है न इंजील; कारण यह कि इन्हीं दोनों में विवाद है। कोई स्वतंत्र कसौटी होनी चाहिए और वह पुस्तक न होनी चाहिए, पर ऐसी होनी चाहिए जो व्यापक हो। फिर

यह तो बतलाइए कि तर्क से अधिक और कौन व्यापक हो सकता है? यह कहा जाता है कि तर्क पूर्ण प्रबल नहीं है; उससे कभी कभी सत्य का ज्ञान नहीं होता; कभी कभी वह भूल कर जाता है। अतः प्रतिफल यह निकलता है कि हम ईसाई धर्म की बातों को मानें। यह बात मुझसे एक रोमन कैथलिक ने कही थी, पर मुझे तो इस तर्क का कुछ पता ही नहीं चला। मैं तो इस पर यह कहता हूँ कि यदि तर्क इतना निर्बल है, तो पुजारियों का समूह उससे कहीं निर्बल है; और मैं तो उनकी व्यवस्था को कभी मानने को तैयार नहीं हूँ। हाँ तर्क को मैं भले ही मानूँगा; क्योंकि उसमें निर्बलता भले ही हो, तो भी उसके द्वारा सत्य का ज्ञान होने की कुछ तो संभावना है। और दूसरे से तो उसकी कुछ आशा ही नहीं है।

अतः हमें तर्क का अनुगामी होना चाहिए और उन लोगों पर अनुकंपा करनी चाहिए जो तर्क का आश्रय लेकर किसी प्रकार के निश्चय पर नहीं पहुँच सके हैं। यह अच्छा है कि मनुष्य तर्क और युक्ति का अनुगामी होकर नास्तिक हो जाय; पर किसी की बात मानकर दो कोटि देवताओं पर विश्वास करना अच्छा नहीं है। हमें जिस वस्तु की आवश्यकता है, वह आगे बढ़ना, उन्नति करना और साक्षात्कार करना है। किसी सिद्धांत से मनुष्यों की उन्नति कभी नहीं हुई है। कितनी ही पुस्तकें क्यों न हों, उनसे हम पवित्र नहीं हो सकते। ह शक्ति तो केवल एक साक्षात् करने में है और वह हम ही में

है और विचारने से आ सकती है। लोगों को विचार करने दीजिए। मिट्टी का डला ही विचार नहीं करता। वह सदा डले का डला बना रहता है। मनुष्य का महत्व तो यही है कि वह एक चिंतनशील सत्व है। मनुष्य का स्वभाव विचारने का है और इसके कारण उसमें और पशु में अंतर है। मैं तर्क पर विश्वास करता हूँ और तर्क का अनुयायी हूँ। मैं शब्द-प्रमाणता की बुराइयों को बहुत देख चुका हूँ। मैं तो ऐसे देश में उत्पन्न हुआ हूँ जहाँ शब्द-प्रमाणता पराकाष्ठा को पहुँच चुकी है।

हिंदुओं का विश्वास है कि सृष्टि वेदों से हुई है। यह आप जानते कैसे हैं कि गाय है? इसी कारण कि वेदों में गाय शब्द है। यह ज्ञान आपको कैसे हुआ कि आगे मनुष्य खड़ा है? इसलिये कि वेद में मनुष्य शब्द है। यदि ऐसा न होता तो संसार में मनुष्य होते ही नहीं। यही उनका कथन है। शासन और वैरनिर्यातन! और इसका अध्ययन वैसे नहीं हुआ है जैसे कि मैंने अध्ययन किया है, अपितु किसी बलवान् आत्मा ने उसे लेकर उसके चारों ओर तर्क का अद्भुत जाल बना दिया है। इस पर उन लोगों ने तर्क किया और यह वहाँ एक पूरा दर्शन बन गया है और सहस्रों बुद्धिमान् मनुष्य सहस्रों वर्षों से इस सिद्धांत के अध्ययन में लगे हुए हैं। शब्द-प्रमाणता का यह प्रभाव है और इससे बड़ी बड़ी हानियाँ हैं। इससे मनुष्य की बाढ़ रुक जाती है। हमें यह न भूलना चाहिए कि हमें बढ़ने की आवश्यकता है। यहाँ तक कि सारे

सापेक्ष सत्य में हमें सत्य की अपेक्षा कहीं अधिक अभ्यास की आवश्यकता है। यही हमारा जीवन है।

वेदांत के सिद्धांत में यह विशेषता है कि यह सारे धार्मिक सिद्धांतों से जिनका हमें बोध है, कहीं युक्तियक्त है। फिर भी वेदांत में यह महत्व है कि उसमें ईश्वर के सभी एकदेशी विचार आ जाते हैं जिनकी बहुतों को आवश्यकता है। कुछ लोग कहते हैं कि यह व्यक्तिगत व्याख्या अयुक्त है। पर इससे संतोष तो होता है। लोगों को संतोष देनेवाले धर्म की आवश्यकता है; और हमारी समझ में यही उनके लिये आवश्यक है। अतः यह आवश्यक है कि शांतिप्रद धर्म बना रहे। इससे बहुतों को अच्छे बनने में सहायता मिलती है। छोटे लोग जिनके ज्ञान अल्प हैं और जिन्हें अपने सुधार की बहुत कम बातों की आवश्यकता है, बहुत ऊँचे विचारों के लिये कष्ट नहीं करते। उनके विचार उनके लिये बहुत अच्छे और उपयोगी हैं। पर आपको अपौरुषेय (व्यापक) को समझना चाहिए; कारण यह है कि उसके समझने से और सब समझ में आ सकते हैं। उदाहरण के लिये पुरुषविशेष ईश्वर के भाव को ही ले लीजिए। वह मनुष्य जो अपुरुष-विधि को समझता है और जानता है— जैसे जॉन स्टुअर्ट मिल—कह सकता है कि पुरुषविध ईश्वर नहीं हो सकता, उसकी सिद्धि नहीं हो सकती। मैं उसकी इस बात को मानता हूँ कि पुरुष-विध ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती। पर वही अपुरुष-विधि का सर्वोच्च प्रकारांतर मात्र है

जो मनुष्य की बुद्धि में आ सकता है। और यह विश्व है क्या? केवल उसी अप्रमेय का एक रूपांतर ही तो है। यह क्या है? एक पुस्तक ही तो है और सब उसके पढ़ने के लिये बुद्धि लगा रहे हैं, सब उसका अध्ययन कर रहे हैं। इसमें कुछ न कुछ ऐसा है जो सब मनुष्यों की बुद्धि में समान रूप से आता है। यही कारण है कि मनुष्य की बुद्धि में कुछ बातें एक रूप से आती हैं। हम और आप कुर्सी को देखते हैं; इससे यह स्पष्ट है कि हममें और आपमें कोई ऐसी वस्तु है जो समान रूप से दोनों में है। मान लीजिए कि एक सत्व ऐसा है जिसमें कोई अन्य प्रकार की इंद्रिय है, तो उसे कुर्सी न देख पड़ेगी। पर जिन सत्वों का संघटन एक सा है, उन्हें वही वस्तु दिखाई पड़ेगी। एक प्रकार से यह विश्व अप्रमेय, अपरिणामी और एकरस है, निर्विकार है। विकार उसीका एक रूपांतर मात्र है। क्योंकि पहले तो आपको यह जान पड़ेगा कि जितने विकारी हैं, वे प्रमेय हैं। सब विकार जो हम देखते वा स्पर्श करते हैं वा हमारे ध्यान में आते हैं, प्रमेय हैं; हमारे ज्ञान से परिमित हैं। और पुरुषविध ईश्वर जो हमारे ध्यान में आता है, निस्संदेह विकार मात्र है। वही परिणाम का भाव विकारी जगत् में व्याप्त है और विश्व के कारण ईश्वर दोनों अवस्था में सहज ही प्रमेय समझा जा सकता है; और इतना होते हुए भी वह है वही अपुरुष-विध ईश्वर। यही विश्व जैसा कि हम देख चुके हैं, हमारी बुद्धि से वही अपुरुषविध ईश्वर है। विश्व में जो

सार है वही अपुरुष विध ईश्वर है और उसे रूप और भाव हमने अपनी बुद्धि से दे रखा है। इस मेज में जो सार है, वह वही सत्ता है; और मेज के रूप की और अन्य रूपों की कल्पना हमारी बुद्धि की की हुई है।

अब उदाहरण के लिये गति को लीजिए। विकार का यही मुख्य लिंग है। हम इसकी उस विश्वव्यापक के लिये कल्पना नहीं कर सकते। विश्व में जितने अंश हैं, उनका एक एक अणु सतत परिवर्तित हो रहा है, परिणाम को प्राप्त हो रहा है, गति कर रहा है। पर समूचा विश्व समष्टि के रूप में निर्विकार है। कारण यह है कि गति का विकार सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं। हमें किसी की गति का बोध कब होता है? तभी न जब हम उसकी किसी ऐसे पदार्थ से तुलना करते हैं जो गतिशील नहीं होता। गति को समझने के लिये दो पदार्थों की आवश्यकता है। सारा विश्व समष्टि रूप से ध्रुव है; उसमें गति नहीं है। यह तो विचारिए कि वह किसकी अपेक्षा गति करेगा। इसमें परिवर्तन है, यह तो कहा ही नहीं जा सकता। यदि कहोगे तो किस की अपेक्षा से कहोगे ? अतः सब शाश्वत है और उसके भीतर प्रत्येक परमाणु परिणामशील है। यह एक ही साथ परिणामी और अपरिणामी दोनों है। विकारी भी है निर्विकार भी, अपुरुषविध और पुरुषविध, एकदेशी और सार्वदेशी सब है। हमारी यही धारणा विश्व के संबंध में, यही गति के संबंध में और यही ईश्वर के संबंध में है।

यह अर्थ 'तत्वमसि' वाक्य से व्यक्त किया गया है। अतः हम देखते हैं कि अपुरुषविध वा सार्वदेशी पुरुषविध वा एकदेशी का खंडन करने के स्थान में और निरपेक्ष सापेक्ष को जड़ से उखाड़ने के बदले उसे हमें समझा देता है और हमारी बुद्धि और मन में बैठा देता है। पुरुषविध ईश्वर और जो कुछ विश्व में है, सब हमारे विचार में वही अपौरुषेय ब्रह्म है । जब हमारे मन का साथ हमसे छूट जायगा, हमारी लघु व्यक्ति का ध्वंस हो जायगा, तब हम उसमें एकीभूत हो जायँगे। यही 'तत्वमसि' वाक्य का अर्थ है कि हमें अपने सच्चे स्वरूप का बोध हो जाय कि हम निरपेक्ष हैं, केवल हैं।

परिमित व्यक्त मनुष्य अपने कारण को भूल जाता है और अपने को अलग समझता है । हम भेद की दशा में अपने स्वरूप को भूल गए हैं। वेदांत की शिक्षा यह नहीं है कि हम भेद को त्याग दें अपितु यह समझें कि हम क्या हैं । सचमुच हम वही हैं। हमारी व्यक्तता वा सत्ता केवल अलग अलग नलियों के समान है जिनमें से होकर वह अप्रमेय सत्ता अपने को व्यक्त कर रही है। सारा विकार जिसकी समष्टि को हम विकाश वा आरोह कहते हैं, उस आत्मा के अपनी अनंत शक्ति को व्यक्त करने के कारण दिखाई पड़ता है। हम बिना उस अप्रमेय को प्राप्त हुए रुक नहीं सकते। हमारा बल, आनंद और ज्ञान स्थिर नहीं रह सकते, अपितु वे बढ़ते जायँगे । अप्रमेय बल, सत्ता और आनंद हमारा है । हमें उन्हें प्राप्त करना

नहीं है; वे हमारे हैं और हमें उन्हें केवल प्रकट करना रह गया है।

वेदांत का यही मुख्य ज्ञान है। इसका समझना बड़ा कठिन है। बचपन ही से सब लोग मुझे निर्बलता की शिक्षा देने लगे, जन्म से ही लोग यह कहने लगे कि तुम निर्बल हो। ऐसी दशा में मेरे लिये यह जानना कि मुझमें कितना बल है, बहुत ही कठिन है। पर अनुभव और तर्क से मुझे अपने बल का ज्ञान प्राप्त होता है और मैं उसे साक्षात् कर सकता हूँ। सोचो तो सही कि हमें इस संसार में जो कुछ ज्ञान है, वह आया कहाँ से ? वह हमारे ही भीतर तो था। बाहर क्या है ? कुछ भी तो नहीं। ज्ञान द्रव्य में नहीं है; वह सदा से मनुष्य में है और था। किसी ने एक भी ज्ञान गढ़ा नहीं, मनुष्य ने अपने भीतर से ही उसे निकाला है। यह वहीं भरा था। सारा वट का वृक्ष जो बिगहों में अपनी डालियाँ फैलाए हुए है, एक छोटे से बीज में जो सरसों वा राई के दाने के अष्टमांश से भी छोटा था, भरा था। सारी शक्ति का समूह उसी में तिरोहित था। महान् बुद्धि एक प्रोटोप्लाजम के कोश में छिपी थी, यह हम सब जानते हैं। फिर शक्ति क्यों न रही होगी ? हम जानते हैं कि ऐसा ही है। चाहे देखने में यह उलटा क्यों न जान पड़े, पर है यह ऐसा ही। हम सब एक एक प्रोटोप्लाजम के कोश से उत्पन्न हुए हैं। हमारा सारा बल उसी में प्रसुप्त था। आप यह नहीं कह सकते कि वह भोजन से आया। यदि आप

अन्न का पहाड़ लगा दें तो उसमें से कौन सा बल निकलेगा? शक्ति उसी में थी; और इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि वह वहीं पर थी। ऐसे ही मनुष्य की आत्मा में अनंत बल है, चाहे उसे उसका ज्ञान हो या न हो। उसकी अभिव्यक्ति केवल उसके जानने पर ही निर्भर है। वह अनंत महासत्व धीरे धीरे उद्बुद्ध हो रहा था, अपनी शक्ति को जान रहा था और उठ रहा था। ज्यों ज्यों उसे बोध होता जाता है, उसके बंधन की बेड़ियाँ ढीली पड़ती जाती हैं। और वह दिन आनेवाला ही है जब उसे अपने अतुल पराक्रम का बोध हो जायगा और वह महासत्व आप खड़ा हो जायगा। हमें इसके लिये प्रयत्न करना चाहिए कि उद्भव का वह अवसर शीघ्र आ जाय।

## कर्म्म-वेदांत।

### चौथा भाग।

( लंदन १७ नवंबर १८९६ )

अब तक हम विश्वव्यापी के संबंध में कह रहे थे। आज हम आपके सामने यह कहना चाहते हैं कि एकदेशी और व्यापक के संबंध में वेदांत का विचार क्या है। हम देख चुके हैं कि द्वैतवाद में, जो वैदिक सिद्धांत का सब से पुराना रूप है, प्रत्येक प्राणी में एक एक अलग आत्मा मानी गई थी। इस विषय में कि "प्रत्येक प्राणी में अलग अलग आत्मा है" अनेक सिद्धांत थे। पर सबसे मुख्य विवाद प्राचीन बौद्धों और

प्राचीन वेदांतियों में था। वेदांती कहते थे कि जितने प्राणी हैं, उतनी ही अलग अलग आत्माएँ हैं। बौद्धों का कथन था कि यह नितांत अनर्गल बात है; ऐसी आत्मा है ही नहीं। मैं आपसे पहले ही कह चुका हूँ कि वह विवाद कुछ वैसा ही था जैसा आजकल युरोप में द्रव्य और गुण के संबंध में है। एक कहता है, गुणों के अतिरिक्त एक पदार्थ द्रव्य नामक है जो गुणों का आधार है। दूसरा कहता है कि द्रव्य कोई पदार्थ है ही नहीं। वह निराधार रह सकता है। जीवात्मा के संबंध में जो सबसे प्राचीन सिद्धांत है, उसका आधार अपने इस निर्धारण पर है कि "मैं हूँ"; कि आज 'मैं' वही हूँ जो कल था और 'मैं' जो आज हूँ, वही कल रहूँगा। शरीर में परिवर्तन भले ही होते रहते हों, पर मैं यही समझता रहता हूँ कि मैं वही "मैं" बना हूँ। यही उन लोगों के परिमित और फिर भी पूर्ण और पृथक् आत्मा मानने का प्रधान हेतु था।

इसके विरुद्ध प्राचीन बौद्धों का कथन था कि आत्मा है ही नहीं; उसे मानने की आवश्यकता ही नहीं है। वे कहते थे कि जो हम जानते हैं वा जान सकते हैं, केवल वही विकार है। किसी निर्विकार पदार्थ का मानना ही ढकोसला है; और यदि मान लिया जाय कि कोई ऐसा निर्विकार पदार्थ है भी, तो न हम उसे कभी जान सकते हैं और न इस संसार में जान ही पावेंगे। आजकल युरोप में वही विवाद चल रहा है जिसमें एक ओर तो धार्मिक और भाववादी हैं और दूसरी ओर

निश्चयवादी (Positivist) और संशयवादी (Agnostics) हैं। एक पक्ष का विश्वास है कि एक निर्विकार पदार्थ है और हमें उसी निर्विकार की एक झलक मात्र दिखाई पड़ती है। इसी पक्ष के अंतिम आचार्य्य हर्बर्ट स्पेंसर हैं। जिन लोगों को उस विवाद में आनंद आता था जो अभी थोड़े दिन हुए हर्बर्ट स्पेंसर और फ्रेडरिक हेरिसन में हुआ था, उन्हें मालूम होगा कि उसमें वही पुरानी कठिनाई आकर पड़ गई थी। एक पक्ष तो यह कहता था कि कोई निर्विकार पदार्थ है; और दूसरा कहता था कि ऐसे पदार्थ के मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। एक पक्ष यह कहता था कि जब तक हम किसी निर्विकार पदार्थ को मान न लें, हमें विकार का बोध ही नहीं हो सकता। दूसरा पक्ष कहता था कि ऐसा मानना निष्प्रयोजन है। हमें तो केवल उसी का बोध हो रहा है जो विकार को प्राप्त हो जाता है। हम निर्विकार को न तो जान सकते हैं, न अनुभव कर सकते हैं और न साक्षात् ही कर सकते हैं।

भारतवर्ष में इस बड़ी शंका का समाधान प्राचीन काल में नहीं हो सका था। कारण यह था कि जैसा कि हम दिखला चुके हैं, गुण से परे ऐसे द्रव्यों की कल्पना जिनमें कोई गुण न हो, प्रमाणित नहीं हो सकती। न तो अपने बोध वा स्मरण से कि मैं वही हूँ जो कल था; और अतः मैं कोई सतत वस्तु रहा हूँ, मुक्ति की ही सिद्धि हो सकती है। दूसरा

वाक्छल जो उपस्थित किया जाता है, केवल वाक्छल है। उदाहरण के लिये मान लीजिए कि एक मनुष्य एक वाक्य-शृंखला को लेता है; जैसे मैं करता हूँ, जाता हूँ, स्वप्न देखता हूँ, गति करता हूँ, सोता हूँ, इत्यादि, और वह यह प्रतिपादन करता है कि करना, जाना, स्वप्न देखना आदि क्रियाएँ विकारी होती गई हैं; पर मैं सतत ध्रुव था और रहा हूँ। इसी आधार पर वे यह परिणाम निकालते हैं कि यह 'मैं' ऐसा पदार्थ है जो ध्रुव है और असंगत है; पर विकार शरीर के संबंध से हुए हैं। यह विचार यद्यपि बड़ा ही संतोषप्रद और स्पष्ट है, तथापि केवल शब्दों के आडंबर पर ही आश्रित है। यद्यपि 'मैं' और "करना," "जाना" आदि अलग अलग भले ही माने जायँ, पर कोई उन्हें अपने मन से अलग नहीं कर सकता।

जब मैं खाता हूँ, तब मैं अपने को खाता हुआ जानता हूँ—मैं खाता हुआ माना जाता हूँ। जब मैं दौड़ता हूँ, तब मैं और दौड़ना दोनों पृथक् नहीं हैं। अतः अपने जानने के आधार पर जो प्रमाण है, वह दृढ़ प्रमाण नहीं जान पड़ता। दूसरी युक्ति प्रत्यभिज्ञा वा स्मरण के आधार पर है; पर वह भी निर्बल ही है। यदि मेरी सत्ता का ज्ञान केवल प्रत्यभिज्ञा पर ही अवलंबित है, तब हम बहुत बातों को भूल गए होंगे और वे सब जाती ही रहीं। मैं यह भी जानता हूँ कि लोगों को विशेष अवस्था में अपनी बीती बातों का भी स्मरण नहीं रह जाता। कभी कभी पागलपन की अवस्था में मनुष्य अपने को काँच का

बना हुआ समझने लगता है; पर वैसी बात होती नहीं है। अतः आत्मा के निश्चय को हम ऐसी असार वस्तु के आधार पर जैसी प्रत्यभिज्ञा है, कभी मान नहीं सकते। इस प्रकार हम देखते हैं कि आत्मा के परिमित और फिर पूर्ण और सतत निश्चित होने की बात गुणों से पृथक् नहीं मानी जा सकती। हम ऐसी संकुचित और परिमित सत्ता को जिसमें गुणों का समूह लगा हो, सिद्ध ही नहीं कर सकते।

इसके विरुद्ध प्राचीन बौद्धों की युक्तियाँ कहीं प्रबल जान पड़ती हैं—यह कि हम न तो जानते हैं और न जान ही सकते हैं कि कोई पदार्थ गुण-समुदाय से पृथक् है। उनके मतानुसार आत्मा गुणों का एक समुदाय विशेष है, अर्थात् चित्त और चैतसिक मात्र का। इन्हीं के समुदाय का नाम आत्मा वा जीवात्मा रख लिया गया है और यह समुदाय नित्य विकारी है।

अद्वैत सिद्धांत से आत्मा के संबंध में इन दोनों पक्षों के झगड़े का निबटेरा हो जाता है। अद्वैत का पक्ष यह है कि यह ठीक है कि हम गुण से पृथक् द्रव्य का ध्यान नहीं कर सकते। हम विकार और निर्विकार दोनों का एक साथ चिंतन नहीं कर सकते। ऐसा होना असंभव है। पर वही पदार्थ जिसे द्रव्य कहते हैं, गुण है। द्रव्य और गुण दो पृथक् पदार्थ नहीं हैं। यह निर्विकार ही है जो हमें विकारी दिखाई पड़ता है। विश्व का निर्विकार पदार्थ विश्व से पृथक् नहीं है। निर्विकार विकार से भिन्न नहीं है, पर यह निर्विकार ही है

जो विकारवान हो गया है। यहाँ एक आत्मा ही है जो विकार रहित है, जिसे हम चित्त और चैतसिक कहते हैं; और यही नहीं, जिसे शरीर कहते हैं, यदि उसे अन्य दृष्टि देखा जाय तो वह भी आत्मा ही है। हमें यह चिंतन करने का अभ्यास पड़ गया है कि हमारे शरीर है, हमारे आत्मा है, इत्यादि; पर यदि सच पूछो तो केवल एक आत्मा ही है, दूसरा कुछ है ही नहीं।

जब हम अपने शरीर-रूप में चिंतन करते हैं तब हम शरीर हैं। यह कहना व्यर्थ है कि हम कुछ और हैं। जब हम अपने को आत्मारूप समझते हैं, तब शरीर रह नहीं जाता और न शरीर के धर्म ही रह जाते हैं। किसी को बिना शरीर का ज्ञान नष्ट हुए आत्मा का ज्ञान हो ही नहीं सकता; किसी को द्रव्य का बोध तब तक हो ही नहीं सकता जब तक कि गुण का ज्ञान जाता न रहे।

अद्वैत के रज्जु और सर्प के पुराने दृष्टांत से इस विषय का अधिक स्पष्टीकरण होता है। जब रज्जु में सर्प का ज्ञान होता है, तब रज्जु नहीं रह जाती; और जब उसमें रज्जु का ज्ञान होता है, तब साँप नहीं रह जाता। फिर तो वह रस्सी ही रह जाती है। एकदेशीय आधार पर अनुमान द्वारा द्वैत वा त्रैत के सिद्धांत की सिद्धि होती है। हम उसे पुस्तकों में पढ़ते हैं और लोगों को कहते हुए सुनते हैं। पर इसका प्रभाव यह होता है कि हमें भ्रम हो जाता है, हममें दोहरा बोध होता है अर्थात् शरीर और आत्मा का; पर यह ज्ञान

वास्तविक नहीं है। ज्ञान एक ही का है; शरीर का हो वा आत्मा का। इसकी सिद्धि के लिये किसी युक्ति की अपेक्षा नहीं है। आप इसे अपने मन में विचार लीजिए।

तनिक अपने को पृथक् आत्मा-रूप में चिंतन करके तो देखिए। आप इसे कभी न कर सकेंगे। वे लोग जो ऐसा कर सकते हैं, उन्हें यह जान पड़ता होगा कि वे जब अपने को आत्म-रूप चिंतन करते हैं, तब उन्हें शरीर का ज्ञान ही नहीं रह जाता। आपने सुना होगा वा कभी देखा भी होगा कि लोगों के चित्त की दशा अवस्था-विशेष में ध्यान वा उन्माद वा नशा खाने से बदल जाती है। उनके उदाहरण से आप समझ सकते हैं कि जब वे आभ्यंतर विचार में मग्न रहते हैं, तब उनको बाह्य ज्ञान रह ही नहीं जाता। इससे प्रकट होता है कि वह एक ही है। वही एक इन नाना रूपों में दिखाई पड़ता है। ये नाना रूप कारण कार्य्य के संबंध के उत्पादक हैं। कारण कार्य्य का संबंध विकास का एक भेद है—एक दूसरा होता है; दूसरा तीसरा, इत्यादि होता जाता है। कभी कभी कारण का मानों अभाव हो जाता है और उसके स्थान में कार्य्य रह जाता है। यदि आत्मा शरीर का कारण है तो आत्मा का पहले ही से अभाव हो चुका और शरीर रह गया है। जब शरीर का नाश होगा, तब आत्मा रह जायगी। यह सिद्धांत बौद्धों की युक्ति के अनुकूल पड़ता है जिसे वे द्वैतों के खंडन में दिया करते हैं कि शरीर और आत्मा भिन्न नहीं हैं; और यह सिद्ध करते हैं कि

द्रव्य और गुण एक ही पदार्थ है। वे केवल भिन्न भिन्न रूप में भासमान होते हैं।

हम यह भी देख चुके हैं कि निर्विकार का भाव केवल समष्टि के लिये ठीक हो सकता है, व्यष्टि के लिये नहीं। व्यष्टि का भाव ही विकार के भाव वा गति के भाव से उत्पन्न होता है। जो परिमित है, हम उसे नहीं समझ सकते और न जान सकते हैं, कारण यह कि वह विकारवान है। और समष्टि तो निर्विकार है; क्योंकि वहाँ तो दूसरा कुछ है ही नहीं। विकार संभव है तो कैसे ? विकार तो तभी हो सकता है जब तुलना के लिये कोई निर्विकार पदार्थ हो वा कोई ऐसा पदार्थ हो जिसमें उसकी अपेक्षा विकार कम हो।

अद्वैत सिद्धांत के अनुसार आत्मा की व्यापकता, निर्विकारता और अविनाशिता का भाव जहाँ तक हो सके, सिद्ध किया जा सकता है। कठिनाई तो विशेष में पड़ेगी। हम उस द्वैत सिद्धांत को कहाँ ले जायँ जिसका हम पर इतना घनिष्ट प्रभाव है और जिससे हमें छुटकारा पाना है—यह कि परिमित, छोटे और व्यक्त आत्मा पर विश्वास का होना।

हम यह देख चुके हैं कि हमारी अविनाशिता समष्टि के विचार से है। पर कठिनाई तो यह है कि हम समष्टि के अंश के रूप में अपनी अविनाशिता के इच्छुक हैं। हम यह देख चुके हैं कि हम अनंत हैं और वही हमारा वास्तविक स्वरूप है। पर हम अपनी छोटी आत्मा को अनंत बनाना नहीं चाहते

हैं। इसका परिणाम क्या होता है ? हम अपने नित्य के अनुभव से देखते आते हैं कि यह छोटी आत्माएँ व्यष्टि मात्र हैं; भेद केवल इतना ही है कि वे नित्य उन्नति करती जा रही हैं। वे हैं वही, पर फिर भी वह नहीं हैं—अंश अंशी, अंग अंगी का अंतर है। कल का 'मैं' ही आज का "मैं" है अवश्य; पर उसमें थोड़ा सा अंतर आ गया है। अब द्वैत के इस विचार को छोड़कर इन सब विकारों में भी कुछ निर्विकार है। इस आधुनिक विचार को जिसे विकासवाद कहते हैं, लेकर देखिए तो जान पड़ता है कि 'मैं' लगातार विकारवान और विस्तार को प्राप्त होनेवाली सत्ता है।

यदि यह ठीक है कि मनुष्य बिना हड्डीवाले जंतुओं से विकास को प्राप्त होकर बना है, तो बिना हड्डी का जंतु वही है जो मनुष्य है। भेद इतना ही है कि मनुष्य अधिक उन्नत हो गया है। अतः परिमित आत्मा इस विचार से कि वह अनंत सत्ता की ओर बढ़ती जा रही है, एक सत्ता हो सकती है। वह पूर्ण सत्ता तभी होगी जब वह अनंत सत्ता को प्राप्त हो जायगी; पर जब तक प्राप्त नहीं होती, तब तक तो वह विकार को प्राप्त होती और उन्नति करती जा रही है। वेदांत दर्शन में एक विशेषता यह भी है कि वह पूर्व के सिद्धांतों के विवाद को मिटाता है। बहुत अंशों में इसने दर्शन शास्त्र की बड़ी सहायता की है; पर इसने किसी न किसी अंश में उसे हानि भी पहुँचाई है। हमारे प्राचीन दर्शन में जिसे विकासवाद कहते हैं, उसका ज्ञान अवश्य

था—अर्थात् इस बात का कि उन्नति वा विकास यथा क्रम होता है; और इसी ज्ञान के कारण उन लोगों ने पूर्व के दर्शनों के भेद का परिहार किया था। यही कारण है कि पूर्व के एक भी विचार का तिरस्कार नहीं किया गया है। बौद्ध धर्म में दोष यह था कि उसमें न तो क्षमता थी और न इस निरंतर उन्नति का बोध था; और यही कारण था कि वह पूर्व के विचारों के साथ अपनी संगति नहीं कर सका। वे सबके सब एक आदर्श के लिये थे। उन सबको उसने निष्प्रयोजन और हानिकारक जानकर त्याग दिया।

धर्म की यह गति बड़ी ही हानिकारक है। मनुष्य को जब कोई नया और अच्छा विचार मिल जाता है और जब वह उन विचारों को जिन्हें उसने छोड़ दिया है, देखता है तो यह सोच लेता है कि वे हानिकारक और निष्प्रयोजन थे। वह यह नहीं विचारता कि वर्तमान दृष्टि से वे कितने ही भोंड़े क्यों न जान पड़ते हों, पर वे उसके लिये उस समय उपयोगी थे और उन्हीं के कारण वह उस नए विचार पर पहुँचा। हममें से सबकी गति समान ही है। पहले हमारे विचार भोंडे रहते हैं; फिर उससे उन्नति करते करते हम ऊँचे विचारों तक पहुँचते हैं। उच्च विचार की प्राप्ति के वही कारण होते हैं। यदि वे न होते तो वहाँ तक पहुँचना कठिन होता। यही कारण है कि अद्वैत ऐसे प्राचीन विचारों का तिरस्कार नहीं करता। द्वैतवाद वा अन्य सिद्धांत जो उसके पूर्व के हैं, अद्वैत उन सबको मानता है। यह

नहीं कि वह उनकी रक्षा करता है, अपितु उन पर इसलिये विश्वास करता है कि वे सब सत्य की ही अभिव्यंजना में हैं और उनका भी परिणाम वही है जो अद्वैत का है।

उन विचारों की हमें प्रशंसा करनी चाहिए, निंदा नहीं करनी चाहिए। उनकी रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि उन्हीं से होकर मनुष्य उन्नति करते हैं। यही कारण है कि द्वैतवाद के सारे सिद्धांतों को वेदांत से निकाल नहीं दिया गया है और न उनका निषेध ही किया गया है। वे ज्यों के त्यों वेदांत में विद्यमान हैं; और जीवात्मा की प्रमेयता और पूर्णता की बात वेदांत में मिलती है।

द्वैतवाद का मत है कि मनुष्य शरीर छोड़ने पर दूसरे लोक में जाता है; तथा इसी प्रकार की अन्य बातें ज्यों की त्यों समूचे वेदांत में भरी हैं। कारण यह है कि उन्नति का ध्यान रखकर अद्वैत सिद्धांत में इन सिद्धांतों का यथा स्थान सन्निवेश है और यह माना गया है कि वे एकदेशी विचार सत्य ही के हैं।

द्वैतवाद की दृष्टि से विश्व द्रव्य से उत्पन्न माना जाता है। सृष्टि किसी की इच्छा से होती है और वह इच्छा इस विश्व से अलग मानी जाती है; अतः इस विचार के आधार पर मनुष्य अपने को शरीर और परिमित तथा पूर्ण आत्मा-युक्त देखता है। ऐसे मनुष्य का विचार अमरत्व और भविष्य के संबंध में उसके आत्मा के विचार के अनुकूल ही हो सकता है। यह बातें वेदांत में ज्यों की त्यों रखी गई हैं; अतः मुझे यह

आवश्यक जान पड़ता है कि आपसे द्वैत की कुछ प्रधान प्रधान बातें निवेदन कर दूँ। इस सिद्धांत के अनुसार मनुष्यों के एक शरीर हाता है जिसे स्थूल शरीर कहते हैं; और इसी शरीर में एक और शरीर होता है जिसे सूक्ष्म शरीर वा लिंग शरीर कहते हैं। यह शरीर भी प्राकृतिक वा भौतिक होता है। भेद यही है कि यह सूक्ष्म होता है। इसी सूक्ष्म शरीर में हमारे कर्म, हमारी क्रिया और संस्कार सब भरे रहते हैं और वही अवस्था पाकर स्थूल रूप धारण करते हैं। हमारे सब विचार और सब कर्म जो हम करते हैं, कालांतर में सूक्ष्म रूप धारण कर लेते हैं और बीज रूप होकर इसी सूक्ष्म शरीर में उपपन्न रूप में रहते हैं; और समय पाकर वही फिर प्रकट होते और अपने फल देते हैं। इन फलों के अनुसार ही मनुष्य का जन्म होता है। इस प्रकार अपने जन्म का वह आप कारण होता है। मनुष्य किसी और बंधन से नहीं बँधता; वह अपना बंधन आप ही बनाता है। हमारे मानसिक, वाचिक और कायिक कर्म भले हों वा बुरे, उस जाल के सूत हैं जिसे हमने अपने ऊपर डाल रखा है। एक बार हमने किसी में ठोकर लगाई; फिर तो हमें उसका फल भुगतना आवश्यक है। जीवात्मा के रूप और आकृति के विषय में बड़ा विवाद है। कुछ लोगों के मत से तो वह अत्यंत सूक्ष्म है—परमाणु के समान; दूसरों का मत है कि वह इतना छोटा नहीं है। जीव उसी व्यापक सत्ता का अंश मात्र है; वह नित्य है। न उसका आदि है और न अंत। वह सदा से

है और सदा रहेगा। वह अपना वास्तविक स्वरूप, जो पवित्रता है, व्यक्त करने के लिये भिन्न रूपों को धारण करता रहता है। वह काम जो इस उन्नति वा गति का अवरोधक है, पाप कहलाता है। यही दशा विचार की भी है। इस प्रकार जिस कर्म और विचार से जीव को उन्नति करने में सहायता मिलती है, उसे शुभ वा पुण्य कहते हैं। एक सिद्धांत जिसे द्वैत से लेकर अद्वैत तक सब विचारवाले मानते हैं, यह है कि सारी शक्तियों का आकर हमारे भीतर है, वे कहीं बाहर से नहीं आती हैं। वे आत्मा में प्रसुप्त दशा में संन्निहत हैं और सारे जीवन की चेष्टा उन्हीं प्रसुप्त शक्तियों का उद्बोधन करके उन्हें व्यक्त करने के लिये है।

उनका आवागमन का भी सिद्धांत है। उसकी शिक्षा यह है कि शरीर के नष्ट होने पर जीव शरीरांतर में जाता है, चाहे इस लोक में हो वा लोकांतर में हो। पर इस लोक में अन्य लोकों से विशेषता है, क्योंकि यही कर्मभूमि है। अन्य लोक ऐसे हैं जहाँ दुःख कम है; और इसी हेतु वे तर्क लगाते हैं कि वहाँ ऊँची बातों के विचारने का अवसर नहीं मिलता। इस लोक में थोड़ा सा तो सुख है, पर दुःख बहुत है। यहीं जीव कभी कभी जाग पड़ता है और मोक्ष का प्रयत्न करता है। जैसे संपन्न लोगों को इस लोक में ऊँची बातों के सोचने का बहुत कम अवसर मिलता है, वैसे ही स्वर्ग में जीव को जागने का कोई अवसर नहीं है। उसकी दशा वहाँ संपन्न लोगों की सी

ही रहती है, केवल कुछ और अच्छी होती है। वहाँ जीव सुख में फँसा रहता है। उसे अपने स्वरूप का कुछ भी ध्यान नहीं रहता। फिर भी कुछ और भी लोक हैं जहाँ सारे सुख होते हुए भी उन्नति करने की संभावना है। कुछ द्वैतवादी जीवात्मा की परमावधि ब्रह्मलोक तक मानते हैं। वहाँ वह सदा ईश्वर के साथ विचरता है। वहाँ उसे उत्तम शरीर मिलता है। न वहाँ रोग है, न जरामरण और न क्लेश। उसकी सारी इच्छाएँ पूरी होती रहती हैं। वहाँ के कुछ लोग समय समय पर पृथ्वी पर जन्म लेकर लोगों को ईश्वर के ज्ञान का उपदेश करते हैं। संसार के बड़े बड़े आचार्य्य ऐसे ही लोग थे। वे मुक्त थे और ब्रह्मलोक में रहते थे। पर उन्हें संसारी लोगों का दुःख देखकर इतनी करुणा आई कि उन लोगों ने इस लोक में आकर अवतार लिया और लोगों को ईश्वर के मार्ग की शिक्षा दी।

इसमें संदेह नहीं कि अद्वैतवाद का सिद्धांत है कि यह परमावधि का आदर्श नहीं हो सकता; निराकारता ही आदर्श है। आदर्श परिमित नहीं हो सकता। जो अप्रमेय से लघु है, वह आदर्श नहीं हो सकता। शरीर अप्रमेय हो नहीं सकता; यह असंभव है। परिमित होने ही से तो शरीर होता है। हमें शरीर और मन के बाहर जाना है, परे जाना है। यही अद्वैतवाद का कथन है। और हम यह भी देख चुके हैं कि अद्वैत के अनुसार जो मुक्ति प्राप्त करना है, वह हमें प्राप्त है। हम केवल उसे भूले हैं और मानते नहीं हैं। पूर्णता कहीं से प्राप्त करना नहीं

है, वह हम में है। अमरत्व और आनंद को कहीं ढूँढ़ना नहीं है। वे हममें विद्यमान हैं और सदा से हमारे रहे हैं।

यदि आप यह कहने का साहस करें कि हम मुक्त हैं, तो आप अभी मुक्त हैं। यदि आप यह कहें कि हम बद्ध हैं, तो आप बद्ध रहेंगे। अद्वैत यही डंके की चोट पुकार रहा है। मैंने आपको द्वैतवादियों के विचार भी बतला दिए हैं। आप जिन्हें चाहिए, मानिए।

वेदांत के सर्वोत्कृष्ट वाक्य का समझना नितांत कठिन है। लोग इस पर लड़ते झगड़ते रहते हैं। कठिनता तो यह है कि जब उन्हें किसी विचार का बोध हो जाता है, तब वे दूसरे विचारों का निषेध और खंडन करते हैं। आपको जो विचार अच्छे लगें, उन्हें ले लीजिए और दूसरों को जो भावे सो लेने दीजिए। यदि आप इस छोटी एकदेशी आत्मा ही को मानना चाहते हैं तो उसीको मानते रहिए; अपनी सारी आकांक्षाएँ बनाए रहिए और उन्हीं पर संतोष रखिए। यदि आप जीवात्मा का पूरा अनुभव कर चुके हैं, तो जहाँ तक बने उसे मानते जाइए। आपको ऐसा करने का अधिकार है। आप अपने भाग्य के विधाता हैं। आपको कोई अपने विचार छोड़ने के लिये बाध्य नहीं करता। आप जब तक बने, जीवात्मा बने रहें; कोई आपको रोकता नहीं। आप मनुष्य ही बने रहें। यदि आप देवता बनना चाहें तो देवता हो जायँगे, यही नियम है। पर कुछ और लोग भी हो सकते हैं जो देवता भी होना नहीं

चाहते होंगे। आपको यह समझने का क्या अधिकार है कि उनका विचार भयावह है? आपके सौ रुपए चले जायँगे तो आप मर जायँगे। पर संसार में कितने ही ऐसे हैं जिनकी सारी संपत्ति भी जाती रहे तो ऊँः तक नहीं करते। ऐसे लोग हो गए हैं और अब भी हैं। आप उनको अपने ही पैमाने से क्यों नापते हैं? आप अपने छोटे विचारों में पड़े रहें; आपके लिये वही सब कुछ हैं। आपको वे शुभदायक हों। आप जब तक चाहें, वे आपके पास बना रहें। पर ऐसे लोग भी हैं जिन्होंने सत्य को देखा है और वे इस कुल्हिया में नहीं समा सकते, जिन्होंने इसे फोड़ दिया है और जो इससे बाहर निकलना चाहते हैं। उनके लिये संसार और इसके सारे सुख कीचड़ की खुरी हैं। आप उन्हें अपने विचारों में क्यों बद्ध करना चाहते हैं? आप अपनी इस लत को सदा के लिये त्याग दीजिए और सबको स्थान दीजिए।

मैंने एक बार नावों के एक बेड़े की बात पढ़ी थी। वह दक्षिण के किसी टापू के पास बवंडर में पड़ गया था। इलस्ट्रेटेड लंडन न्यूज (Illustrated London News) ने उस का चित्र भी छापा था। सब नावें डूब गई थीं और केवल एक अँग्रेजी नाव बची थी। चित्र में यह दिखलाया गया था कि डूबनेवाले लोग अपनी नावों पर खड़े होकर उन लोगों को जो बचकर नाव पर जा रहे थे, साधुवाद दे रहे थे। वैसे ही वीर और उदार बनो। जहाँ तुम जा रहे हो, वहाँ दूसरों

को पकड़कर मत खींचो। मूर्खता की दूसरी बात यह है कि यदि प्रत्येक का आत्मा पर से विश्वास उठ जायगा, तो धर्म-कर्म सब रसातल चला जायगा; मनुष्यों के लिये कहीं ठिकाना न रहेगा। जान पड़ता है कि मानों सब लोग मनुष्य जाति के लिये सदा से प्राण ही दे रहे हैं! ईश्वर तुम्हारा भला करे। यदि सब देशों में दो दो सौ स्त्री-पुरुष भी ऐसे निकल आते जो मनुष्य जाति के लिये सचमुच भलाई करना चाहते होते, तो पाँच दिन में करोड़ों ऐसे मनुष्य तैयार हो जाते। यह हम जानते हैं कि हम कैसे मनुष्य जाति के लिये प्राण देते हैं। यह केवल लंबी चौड़ी बातें हैं, और कुछ नहीं। संसार का इतिहास साक्षी दे रहा है कि जिन लोगों ने अपने छोटे व्यक्तित्व का ध्यान किया है, वे ही मनुष्य जाति के सच्चे हितैषी हो गए हैं। और जितना ही अधिक लोग अपने व्यक्तता का ध्यान करते हैं, उतना ही वे कम परोपकार कर सकते हैं। एक परार्थ है और दूसरा स्वार्थ है। छोटे से छोटे विषय-भोग में फँसे रहना और उसके लिये बार बार चेष्टा करते रहना ही स्वार्थ है। यह सत्य की इच्छा से उत्पन्न नहीं होता; यह दूसरों पर अनुकंपा के कारण नहीं है; इसका उद्भव मनुष्य की आत्मा में केवल स्वार्थ से होता है—इस रूप में कि 'मैं सब कुछ लूँगा। मुझे और किसी की चिंता नहीं है।" मुझे तो ऐसा ही जान पड़ रहा है। मैं तो संसार में ऐसे धर्मात्माओं को अधिक देखना चाहता हूँ जो प्राचीन ऋषियों और आचार्य्यों के समान हों, जो किसी एक

छोटे जंतु के उपकार के लिये भी अपने सैंकड़ों प्राण देने को उद्यत थे। केवल धर्म और परोपकार के नाम की डौंडी पीटना आजकल की व्यर्थ बकवास है।

मैं गौतम बुद्ध सा धर्मात्मा चाहता हूँ जिनको ईश्वर और जीवात्मा पर विश्वास ही न था, जिन्होंने कभी उसकी बात ही छेड़ी, अपितु जो पूरे संशयवादी थे और तिस पर भी जो सबके न लिये प्राण देने को तैयार रहते थे। वे आजन्म लोगों की भलाई के लिये काम करते रहे, सबकी भलाई का चिंतन करते रहे। उनके जीवनचरित्रकार ने बहुत ही ठीक कहा है कि उनका जन्म बहुतों की भलाई के लिये ही हुआ था। बहुतों के लिये उनका जन्म परम हितकारक था। वे जंगल में अपने मोक्ष के लिये नहीं गए थे। उनको इसलिये वहाँ जान पड़ा था कि संसार में आग लगी थी और वे उसे बुझाने के लिये उपाय ढूँढ़ने निकले थे। संसार में इतना दुःख क्यों है, यही प्रश्न वे आजन्म विचारते रहे। क्या आप समझते हैं कि हम भगवान् बुद्धदेव से धर्मात्मा हैं?

मनुष्य जितना स्वार्थी होता है, उतना ही वह पापी भी होता है। यही दशा जातियों की भी है। जो जाति अपने स्वार्थ में बँधी है, वही संसार में सबसे अधिक अत्याचारी और दुष्ट है। संसार में ऐसा कोई धर्म न होगा जो द्वैत से उतना राग रखता हो, जितना अरब के आचार्य्य (पैगंबर) का धर्म है। और न संसार में वैसा रक्तपात किसी धर्म ने किया है और न औरों

पर इतना अत्याचार ही किया है। कुरान में यह शिक्षा है कि उस मनुष्य को जो इन उपदेशों को न माने, मार डालना चाहिए; उसे मारना ही दया है। और स्वर्ग में जहाँ सुंदर हूरें और अन्य प्रकार के भोग-विलास हैं, जाने का निश्चित उपाय यही है कि ऐसे अविश्वासियों को मार डालो। जरा सोचो तो सही, ऐसे विश्वास से संसार में कितना रक्तपात हुआ है।

ईसाई धर्म में कम भोंडापन था। उसमें और वेदांत में बहुत कम अंतर है। वहाँ भी आपको अद्वैतवाद मिलेगा। पर ईसा ने लोगों के लिये द्वैतवाद का इसलिये उपदेश किया था कि उन्हें सहारे के लिये कुछ स्थूल पदार्थ दे दिया जाय और वे उच्च आदर्श पर पहुँच जायँ। उसी आचार्य्य ने जिसने यह उपदेश किया था कि 'हमारा बाप जो स्वर्ग में है' यह भी शिक्षा दी थी कि 'मैं और मेरा बाप दोनों एक हैं।' ईसा के धर्म में उपकार और प्रेम था। पर ज्यों ही भोंडापन आया, वह इतनी अधोगति को प्राप्त हुआ कि अरब के आचार्य्य के धर्म से कुछ ही अच्छा रह गया। यह सचमुच भोंडापन था—तुच्छ आत्मा के लिये यह विवाद—"मैं" के साथ यह राग, न केवल इसी जन्म के लिये अपितु यह इच्छा करना कि मरने पर भी वह बना ही रहे। इसको लोग निःस्वार्थता बतलाते हैं; इसे धर्म की जड़ कहते हैं! यदि यही धर्म का मूल है तो ईश्वर ही रक्षा करे! और आश्चर्य्य की बात तो यह है कि जो स्त्री-पुरुष उत्तम ज्ञान लाभ कर सकते हैं, वे यह सोच रहे हैं कि यदि यह

तुच्छ आत्मा जाती रहेगी तो धर्म का नाश हो जायगा; और यह सुनकर काँप उठते हैं कि धर्म उसके नष्ट होने ही से अचल हो सकता है। सारी भलाई और अच्छेपन की कुंजी 'मैं' नहीं है, 'तू' है। इसे कौन देखता है कि स्वर्ग-नरक है वा नहीं? कौन विचारता है कि आत्मा है वा नहीं? कौन ध्यान देता है कि कोई निर्विकार है वा नहीं? यहाँ तो संसार है और वह दुःखों से भरा है। इससे भागकर बचो, जैसे भगवान् बुद्धदेव ने किया था। इसके दुःख घटाने की चेष्टा करो वा करते करते मर मिटो। अपने को भुला दो, यही पहली बात सीखने योग्य है; चाहे तुम नास्तिक हो वा आस्तिक, संशयवादी हो वा वेदांती, ईसाई हो वा मुसलमान। यही सबके लिये सीखने की स्पष्ट बात है कि इस छोटे तुच्छ आत्मा का नाश करो और वास्तविक आत्मा को बनाओ।

दो शक्तियाँ अलग अलग समानांतर रूप में काम करती रही हैं। एक कहती है 'मैं', दूसरी कहती है 'मैं नहीं'। उनकी अभिव्यक्ति मनुष्य ही में नहीं है, पशुओं में भी है; और पशुओं की कौन चलावे, छोटे से छोटे कीड़े में भी है। सिंहनी जो मनुष्य के रक्त में अपने पंजे डुबोती है, अपने बच्चों पर दया करती है। अत्यंत पतित मनुष्य जो अपने भाई के प्राण लेने में तनिक भी संकोच नहीं करता, संभवतः अपनी जान पर खेल-कर अपने भूखे बाल-बच्चों को बचाता है। इसी प्रकार सृष्टि भर में दोनों शक्तियाँ साथ साथ कंधे मिलाकर काम कर रही

हैं। एक स्वार्थ है और दूसरी निःस्वार्थता। एक ग्रहण है, दूसरी त्याग। एक लेती है, दूसरी देती है। छोटे से बड़े तक, सारा विश्व इनका क्रीड़ा-स्थल है। इसके लिये प्रमाण की अपेक्षा नहीं है, यह प्रकट है।

किसी समाज को अधिकार क्या है कि वह विश्व के विकास और सारी बातों को इन दोनों अंशों में एक ही के आधार पर माने—अर्थात् संघर्ष और संग्राम पर? उसे क्या अधिकार है कि विश्व के सारे कर्मों को विकार और विग्रह, संघर्ष और संग्राम पर अवलंबित समझे? यह दोनों कहाँ से हैं? क्या कोई इससे इन्कार कर सकता है कि प्रेम, निर्ममता, "मैं" का न होना और त्याग ही संसार वा विश्व में एक मात्र अवैकल्पिक शक्ति है? अन्य सब इसी प्रेम की शक्ति के अन्यथा प्रयोग मात्र हैं। इसी प्रेम की शक्ति से संघर्ष उत्पन्न होता है। संघर्ष का मुख्य हेतु प्रेम ही है। बुराई का प्रधान बीज स्वार्थत्याग में है। बुराई तो भलाई से उत्पन्न होती है और उसका अंत भी भलाई ही है। यह भलाई की शक्ति का अन्यथा प्रयोग मात्र है। वह मनुष्य जो किसी का घात करता है, बहुधा अपने बाल-बच्चों के प्रेम ही के कारण करता है। उसका प्रेम परिमित हो गया है और सिमटकर उसी बच्चे मात्र में आ गया है। वह अब विश्व के करोड़ों मनुष्यों में नहीं रह गया है। पर चाहे परिमिति हो वा अपरिमित, है तो वही प्रेम ही न।

अतः सारे संसार का संचालक बल, चाहे वह किसी रूप

में क्यों न व्यक्त होता हो, वही अद्भुत पदार्थ है जिसे निःस्वार्थता, त्याग या प्रेम कहते हैं। संसार में वही सच्ची और जीती-जागती शक्ति है। यही कारण है कि वेदांती उसी एकता पर डटे हैं। हम इस बात पर इसलिये डटे हैं कि हम विश्व के दो कारणों को नहीं मान सकते। यदि हम केवल यह मान लें कि वही मनोहर और अद्भुत प्रेम केवल परिमित हो जाने से बुरा वा निकृष्ट देख पड़ने लगता है, तो इसी एक प्रेम के बल से सारे विश्व के रहस्य का बोध हो जाता है। यदि नहीं तो विश्व के दो ही कारण मानिए, एक भलाई, दूसरा बुराई; एक प्रेम, दूसरा घृणा। देखिए, इन दोनों में कौन युक्तियुक्त है? सच-मुच एक ही शक्ति की बात ठीक निकलेगी।

अब हमें उन पदार्थों का आश्रय लेना चाहिए जिनका द्वैत-वाद से संबंध नहीं है। अब हम क्षण भर भी द्वैतवाद पर नहीं टिक सकते। हमें भय लगता है। मेरा विचार है कि मैं यह दिखलाऊँ कि धर्म और निःस्वार्थता का सर्वोच्च आदर्श दोनों सर्वोत्कृष्ट दार्शनिक ज्ञान के साथ साथ चलते हैं और आपको आचार और धर्म से नीचे के मार्ग में उतरने की आवश्यकता नहीं है। पर इसके विरुद्ध आचार और धर्म के मूल तक पहुँचने के लिये आपको सर्वोच्च दार्शनिक और वैज्ञानिक विचार की आवश्यकता है। मनुष्य का ज्ञान मनुष्य जाति की भलाई का विरोधी नहीं है। इसके विरुद्ध यही एक ऐसा ज्ञान है जो अपने जीवन की सब अवस्थाओं में हमारा रक्षक है। ज्ञान ही में

उपासना है। जितना अधिक हमें ज्ञान हो, उतना ही अच्छा है। वेदांती कहते हैं कि सारी बुराई की जड़ जो दिखाई पड़ती है, केवल अप्रमेय की प्रमेयता है। जो प्रेम तंग राह से परिमित होकर व्यक्त होता है, वह बुराई का रूप धारण करता है। वेदांत यह भी कहता है कि सब बुराइयों के कारण हमीं हैं। किसी अलौकिक सत्ता को दोष मत दो, न निराश हो, न इसका ध्यान करो कि हम ऐसे स्थान पर हैं कि जब तक कोई आकर हमें सहायता न दे, हम यहाँ से निकल ही नहीं सकते। वेदांत कहता है कि ऐसा अशक्य है। हम रेशम के कृमि की भाँति हैं। हम अपने ही से तागा निकालकर कोश बनाते हैं और कालांतर में उसी के भीतर बद्ध हो जाते हैं। पर यह सदा रहता नहीं। उसी कोश में हम आध्यात्मिक साक्षात्कार लाभ करेंगे और तितली की भाँति उसे काटकर बाहर निकल जायँगे। हमने यह कर्म-जाल आप ही आप बना रखा है और उसी में अज्ञानवश अपने को बद्ध समझ रहे हैं और सहायता के लिये रोते और चिल्लाते हैं। पर सहायता कहीं बाहर से नहीं आती है। जब आती है, तब भीतर से ही आती है। विश्व के सारे देवताओं के सामने माथा पटकते फिरा कीजिए। मैं तो वर्षों प्रार्थना करता और चिल्लाता फिरा; पर अंत को मुझे जो सहायता मिली वह भीतर ही से मिली। मुझे उसे बिगाड़ना पड़ा जिसे मैंने भूल से बनाया था। यही एक मार्ग वा उपाय था। मैंने उस जाल को, जिसे मैं अपने ऊपर लपेटकर

उलझा पड़ा था, काट डाला और काटने की शक्ति मेरे भीतर थी। इसका मुझे निश्चय है कि मेरे जीवन में मेरी एक भी आकांक्षा, चाहे वह ठीक रही हो या गलत, निष्फल नहीं हुई; अपितु मैं अपने पूर्व के भले बुरे कर्मों का फल-स्वरूप हूँ। मैंने अपने जीवन में अनेक भूलें कीं। पर ध्यान रखिए कि बिना इन भूलों के मैं आज वह न हुआ होता जो हूँ। अतः मुझे संतोष है कि मैंने जो किया, ठीक किया। मेरा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि आप घर जायँ और जान बूझकर भूल करें। इस प्रकार मेरे आशय को उलटा न समझिए। पर बात यह है कि यदि भूल हो जाय तो उस पर झंखो मत। स्मरण रखो कि अंत को सब ठीक हो जायगा। यह अन्यथा हो नहीं सकता। कारण यह है कि अच्छाई ही हमारा स्वरूप है; शुद्धता ही हमारी प्रकृति है। प्रकृति का कभी नाश नहीं होता। हमारी मुख्य प्रकृति सदा बनी रहेगी।

जो बात हमें जानना है, वह यह है कि जिसे हम भूल या बुराई कहते हैं, उसे हम इसलिये करते हैं कि हम निर्बल हैं। हम निर्बल क्यों हैं? इसलिये कि हम अज्ञान हैं। मैं उसे भूल कहता हूँ। 'पाप' शब्द यद्यपि बहुत सुंदर है, पर फिर भी उसमें कुछ ऐसा पुट है कि मुझे भय लगता है। हमें अज्ञान में कौन डालता है? हमीं तो। हम अपनी आँख अपने हाथ से ढके हुए हैं और रोते हैं कि अँधेरा है। हाथ हटाइए, प्रकाश ही तो है; सदा से प्रकाश है। यही मनुष्य की आत्मा का

धर्म है। क्या आपने नहीं सुना है कि आधुनिक वैज्ञानिक लोग क्या कहते हैं ? विकास का कारण क्या है ? केवल इच्छा। जंतु कुछ करना चाहते हैं, पर उन्हें उसके अनुकूल परिवेश नहीं मिलता; अतः उनके शरीर में नया परिवर्तन वा विकास होता है, उनका शरीर बदल जाता है। इस परिवर्तन का कारण कौन है ? वही जंतु या उसकी इच्छा। आप तुच्छ अंभ (Amœba) से विकास को प्राप्त हुए हैं। अपनी इच्छा से काम लेते जाइए; वह आपको और उच्च अवस्था पर पहुँचा देगी। इच्छा सर्वशक्तिमती है। यदि यह सर्वशक्तिमती है, तो आप कह सकते हैं कि फिर मैं सब कुछ क्यों नहीं कर सकता हूँ ? पर आप तो अपनी छोटी आत्मा के लिये विचार रहे हैं। आप अपनी दशा पर पीछे ताककर देखिए कि किसने आपको अंभ से मनुष्य का रूप दिया ? यह सब किसका किया है ? आपकी इच्छा ही का न ? क्या आप इसकी सर्वशक्तिमत्ता का फिर भी निषेध करते रहेंगे ? जिसने आपको इतना उच्च बनाया, वह आपको इससे और ऊँचे भी पहुँचा सकती है। आपको जिसकी आवश्यकता है, वह चारित्र्य है, इच्छा को पुष्ट करना है।

इसलिये यदि मैं आपको यह शिक्षा दूँ कि आपका स्वभाव बुरा है, घर जाइए, गुदड़ी पहन, भभूत रमाकर बैठिए और आजन्म रोते रहिए कि हमने अमुक भूल की है, इससे हमारा भला न होगा, हमारा सदा क्षय होता जायगा, तो मैं आपको

भलाई के स्थान पर बुराई का मार्ग दिखा रहा हूँ। यदि इस कोठरी में सहस्रों वर्ष से अंधकार है और आप आकर रोने लगें और चिल्लायँ कि 'हाय हाय, अंधकार अंधकार !' तो क्या इससे अंधकार जाता रहेगा ? दियासलाई रगड़िए, अभी उजाला होता है। भला जन्म भर इस तरह झींकने से क्या होता है कि 'मैंने बुराई की; मुझसे बहुत भूलें हुईं' ? इसे कोई प्रेत बतलाने आवेगा ? प्रकाश करो, अंधकार भाग जाय। अपना चारित्र्य सुधारो, अपना सच्चा स्वरूप प्रकट करो—प्रकाशमय, ज्योतिः स्वरूप, विशुद्ध; और जो तुमको मिले, उसी में उसकी भावना करो। मेरी तो इच्छा है कि सब लोग इस अवस्था को प्राप्त हो जाते कि नीचातिनीच पुरुष में भी हमें वही परमात्मा दिखाई पड़ता और उससे घृणा करने की जगह हम कहते "हे प्रकाशमय, हे शुद्ध-बुद्ध, हे जन्म-मरण-रहित, हे सर्वशक्तिमान्, उठो, जागो और अपने सच्चे स्वरूप को प्रकट करो। यह छोटी अभिव्यक्ति तुम्हारे योग्य नहीं है।" यह सर्वोच्च प्रार्थना है जिसकी शिक्षा अद्वैतवाद देता है। यही एक प्रार्थना है कि अपने स्वरूप का स्मरण करो। जो हमारे भीतर ईश्वर है, उसे अनंत, सर्वशक्तिमान्, कृपालु, दयालु, निर्मम और अप्रमेय समझो। और वह निर्मम है, इसी लिये निर्भय भी है। भय तो स्वार्थ से होता है। जिसे कुछ इच्छा ही नहीं, उसे भय किसका, उसे कौन डरा सकता है ? मृत्यु से उसे क्या भय है ? पाप उसका क्या कर सकता है ? अतः यदि हम अद्वैत-

वादी हैं, तो हमें इसी क्षण से समझ लेना चाहिए कि हमारी पुरानी आत्मा नष्ट हो गई, मर गई, अब नहीं रही। अमुकी और अमुक अब नहीं हैं; वे केवल पक्षपात मात्र थे; और अब तो यहाँ नित्य, शुद्ध, सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ मात्र शेष है— वही है और रहेगा। फिर हमारे लिये कोई भय नहीं। सर्व-व्यापी को कौन क्षति पहुँचा सकता है? सारी निर्बलता चली गई और हमारा कर्त्तव्य केवल यही रह गया कि साथ के लोगों में हम यह भाव फैलावें। हम देखते हैं कि वे भी शुद्ध आत्मा हैं; केवल उन्हें ज्ञान नहीं है। हमें चाहिए कि हम उन्हें शिक्षा दें और अपने अनंत स्वभाव को जाग्रत करने में सहायता दें। यही बात है जिसकी आवश्यकता मुझे सारे संसार में प्रतीत होती है। यह सिद्धांत बड़ा पुराना है, अनेक पर्वतों से भी पुराना है। सब सत्य नित्य है। सत्य किसी की संपत्ति नहीं है; किसी जाति, किसी व्यक्ति का इस पर कोई निज का स्वत्व नहीं है। सब आत्माओं का स्वरूप सत्य है। इस पर किसका विशेष अधिकार हो सकता है? पर इसे काम में लाना चाहिए, सीधा बनाना चाहिए (क्योंकि सबसे बढ़िया सत्य सदा सुबोध होता है) जिसमें वह मनुष्य-समाज के अंग अंग में घुस जाय और सब स्त्री-पुरुष, बुड्ढे-बच्चे का एक साथ ध्यान का विषय और संपत्ति बन जाय। तर्कशास्त्र की सारी युक्तियाँ, अध्यात्म की पोथियों की सारी गाँठें, सारे धर्म-पुराण और कर्मकांड अपने अपने समय के लिये अच्छे थे।

पर हमारा काम यह है कि गुत्थियाँ सुलझाकर उन्हें सरल करें और वह युग लावें जब कि सब लोग उपासक बनें और मनुष्यों की निजी सत्ता उपास्यदेव बने।

---

## (२१) विश्वव्यापी धर्म की प्राप्ति का मार्ग।

( यूनिवर्सलिस्ट चर्च पेसाडेना, केलिफोर्निया
२८ जनवरी १६०० )

मनुष्य को ब्रह्म-जिज्ञासा से बढ़कर कोई जिज्ञासा प्रिय नहीं है। चाहे प्राचीन समय में हो वा वर्तमान काल में, मनुष्य का ध्यान जीवात्मा, ब्रह्म वा मनुष्य के भाग्य के विचार से अधिक और विषयों पर नहीं गया है। हम अपने नित्य के झमेलों में कितने ही व्यस्त क्यों न रहें, कभी न कभी हमें विराग हो ही जाता है और हम में परलोक के जानने की इच्छा उत्पन्न होती है। कभी न कभी हमारा ध्यान इंद्रियातीत विषय पर जाता है। परिणाम यह होता है कि हम उसे प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। मनुष्य सदा से परोक्ष के जानने की इच्छा करता आया है और अपनी वृद्धि का आकांक्षी रहा है; और जिसे उन्नति वा विकास कहते हैं, वह सदा केवल इसी जिज्ञासा से होता आया है; अर्थात् इस जिज्ञासा से कि मनुष्य का परिणाम क्या है, ब्रह्म क्या है।

जिस प्रकार भिन्न भिन्न जातियों में हमारे सामाजिक झमेले नाना प्रकार के सामाजिक संघटन के रूप में प्रकट हुए हैं, उसी

प्रकार मनुष्य के आध्यात्मिक झमेलों से नाना धर्मों का प्रादुर्भाव हुआ है। जिस प्रकार भिन्न भिन्न सामाजिक संघटन सदा से एक दूसरे से लड़ते झगड़ते आ रहे हैं, वैसे ही यह धार्मिक संघटन भी परस्पर सदा से लड़ते झगड़ते आते हैं। एक प्रकार के सामाजिक संघटनवाले यह समझते हैं कि हम ही को रहने का स्वत्व है। जहाँ तक उनसे हो सकता है, वे निर्बलों के ऊपर अपने उस स्वत्व को काम में लाते रहते हैं। हम जानते हैं कि इस समय ऐसा ही भयानक झगड़ा दक्षिणी अफ्रिका में चल रहा है। इसी प्रकार सब धार्मिक संप्रदाय स्वयं अपना रहने का स्वत्व समझ रहे हैं। और इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म से बढ़कर मनुष्य के कल्याण का हेतु कोई दूसरा नहीं था, पर साथ ही उससे बढ़कर किसी से हानि भी नहीं हुई होगी। मनुष्य में धर्म से बढ़कर कोई दूसरा शांति और प्रेम का उत्पन्न करनेवाला नहीं हुआ है और उससे बढ़कर किसी ने भयानक घृणा भी न उत्पन्न की होगी। न तो धर्म से बढ़कर किसी ने मनुष्य में भ्रातृभाव को दृढ़ किया होगा और न इससे बढ़कर किसी ने मनुष्यों में घोर शत्रुता उत्पन्न की होगी। धर्म के कारण मनुष्यों के हित के लिये जितने दान-सत्र और चिकित्सालय स्थापित हुए, उतने और किसी के कारण नहीं हुए; और न जितना रक्तपात धर्म के कारण हुआ, उतना और हेतु से हुआ होगा। हम यह भी जानते हैं कि सदा से एक और विचार की लहर भी भीतर ही भीतर काम

करती आ रही थी। अर्थात् दार्शनिक और धर्मों का तुलनात्मक रीति से अध्ययन करनेवाले ऐसे लोग होते आए हैं, जिनका यह प्रयत्न रहा है और अब भी है कि यह सांप्रदायिक झगड़े और विवाद सब शांत हो जायँ। कुछ देशों के संबंध में तो इन प्रयत्नों से काम चल गया है, पर सारे संसार के संबंध में ये सफलीभूत नहीं हुए।

कुछ ऐसे भी धर्म हैं जो बहुत प्राचीन काल से चले आ रहे हैं; जिनमें यह भाव है कि सब धार्मिक संप्रदाय रहने दिए जायँ; या यह कि सब धार्मिक संप्रदायों के भीतर कुछ अर्थ वा उत्तम विचार छिपे हैं। अतः संसार की भलाई के लिये उनकी आवश्यकता है और उन्हें सहायता देनी चाहिए। आधुनिक समय में भी वही भाव फैल रहा है और यथा समय उसको काम में लाने का उद्योग हो रहा है। इन प्रयत्नों का फल सदा हमारे इच्छानुकूल नहीं हो रहा है कि उनसे पूरा काम चल जाय। नहीं, दुःख की बात तो यह है कि कभी कभी यह देखा जाता है कि हमारा झगड़ा और भी बढ़ रहा है।

अब सिद्धांत की बात को अलग कर दीजिए और विवेक ही से देखिए तो जान पड़ेगा कि सभी बड़े बड़े धर्मों में बहुत बड़ी जीवनदायिनी शक्ति है। कुछ लोग यह कहेंगे कि हो, पर हमें इसका ज्ञान तो नहीं है। पर आपके न जानने से होता क्या है। यदि कोई यह कहे कि मुझे इसका ज्ञान नहीं कि संसार में क्या हो रहा है अतः संसार की बातें हैं ही नहीं, तो यह उसका

दोष है। आप लोगों में से जिन्होंने संसार में धर्मों की गति देखी है, यह जानते हैं कि संसार के बड़े धर्मों में एक भी नष्ट नहीं हुआ है; केवल यही नहीं, बल्कि सब बढ़ते जा रहे हैं। ईसाई बढ़ते जाते हैं, मुसलमान बढ़ रहे हैं, हिंदू लोग भी पीछे नहीं हैं और यहूदी लोग भी बढ़ रहे हैं। संसार में चारों ओर सब फैलते जा रहे हैं और उनकी संख्या बढ़ रही है।

केवल एक ही धर्म—संसार का प्राचीन धर्म—जो धुँधुला पड़ रहा है, वह जरतुश्त का धर्म है—प्राचीन फारसवालों का धर्म है। मुसलमानों के आक्रमण करने के कारण लगभग एक लाख मनुष्यों ने भागकर भारतवर्ष में शरण ली थी और कुछ वहां रह गए थे। जो लोग फारस में रह गए थे, मुसलमानों के अत्याचार से उनका क्षय हो गया और अब उनमें से केवल दस हजार बच रहे हैं। भारतवर्ष में उनकी संख्या अस्सी हजार है, पर वे बढ़ नहीं रहे हैं। इसमें संदेह नहीं कि इसका प्रधान कारण यही है कि वे दूसरों को अपने धर्म में नहीं लेते। और थोड़े से लोग जो भारतवर्ष में रह गए हैं, सगोत्र विवाह की निकृष्ट प्रथा रखते हुए भी बढ़ नहीं रहे हैं। एक इसी धर्म को छोड़कर संसार के सब धर्म जीवित हैं, फैल रहे हैं और उन्नति करते जाते हैं। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि संसार के बड़े बड़े धर्म बहुत पुराने भी हैं। इनमें से एक भी आजकल का नहीं है और सब धर्म गंगा और फरात नदियों के बीच के देशों से निकले हैं। इन धर्मों में से एक भी न युरोप से निकला

है न अमेरिका से; सब धर्म एशिया खंड से निकले हैं। उनका मूल स्थान संसार के उसी खंड में है। यदि आजकल के वैज्ञानिकों का यह कहना ठीक है कि 'युक्ततमेऽवस्थानं' ही कसौटी है, तो इन धर्मों के अब तक रह जाने से प्रमाणित होता है कि वे अब भी बहुतों के काम के हैं। उनके रह जाने का यही कारण है कि उनसे बहुतों का कल्याण होता है। मुसलमानों को देखिए, वे कैसे दक्षिणी एशिया के कुछ देशों में फैलते जा रहे हैं और अफ्रिका में आग की तरह बढ़ रहे हैं। बौद्ध धर्म के लोग सारे मध्य एशिया में फैले जा रहे हैं, यद्यपि मुझे इसका निश्चय नहीं है। उनका प्रसार उसी वेग से हो रहा है जैसे पहले होता था। हिंदू लोग भी यहूदियों की भाँति दूसरों को अपने धर्म में नहीं लेते; फिर भी और जातियाँ धीरे धीरे हिंदू धर्म में घुसती जा रही हैं और उनकी रीति-नीति का अवलंबन करके उनमें आपसे आप मिल रही हैं। आप जानते हैं कि ईसाई धर्म भी फैलता ही जाता है, यद्यपि मुझे निश्चय नहीं है कि यह उस वेग से बढ़ रहा जैसा कि उसके लिए जोर लगाया जाता है। ईसाई धर्मवाले एक बड़ी भूल कर रहे हैं और वही उनके फैलने में बाधक है। वह दोष प्रायः सभी युरोपीय संस्थाओं में है। कलों में सैकड़े नब्बे शक्ति नष्ट हो जाती है; और युरोप में बहुत अधिक कलों का ही काम है। उपदेश करना सदा से एशियावालों का काम था। पश्चिम के लोग संघटन का काम अच्छा जानते हैं। वे सामाजिक संस्था, सेना, शासन आदि का काम

अच्छा करते हैं; पर जब धर्मोपदेश की बारी आती है, तब वे एशियावालों की बराबरी नहीं कर सकते। एशियावाले सदा से यही करते आ रहे हैं और वे जानते हैं कि उपदेश कैसे किया जाता है। वे बहुत सी कलों से काम नहीं लेते।

मनुष्य जाति के वर्तमान काल के इतिहास में यह एक सच्ची बात है कि संसार के बड़े बड़े धर्म बने हुए हैं, फैलते जा रहे हैं और बढ़ रहे हैं। इसमें एक गूढ़ तत्व है। यदि सर्वज्ञ, दयामय जगत्कर्ता की यही इच्छा होती कि इन धर्म्मों में से एक ही रह जाय और शेष सब नष्ट हो जायँ, तो यह कभी का हो गया होता। यदि यह बात ठीक होती कि इन धर्मों में कोई एक ही सच्चा और दूसरे सब मिथ्या हैं, तो अब तक उसी का राज्य होता। पर सब धर्मों की कभी वृद्धि होती है, कभी ह्रास होता है। अब तनिक इधर ध्यान दीजिए। आपके देश में छः करोड़ मनुष्य बसते हैं। उनमें केवल दो करोड़ दस लाख भिन्न भिन्न मतों के माननेवाले हैं। अतः यह वृद्धि नहीं है। यदि सब देशों की जन-संख्या पर दृष्टिपात किया जाय तो जान पड़ेगा कि धर्मों में कभी वृद्धि होती है और कभी ह्रास। संप्रदाय सदा बढ़ते जाते हैं। यदि किसी धर्म का यह कथन ठीक होता कि उसमें सत्य ही सत्य है और ईश्वर ने किसी पुस्तक-विशेष में सारे सत्य को लिखकर भर दिया है, तो फिर संसार में इतने धर्म क्यों होते? पचास वर्ष भी नहीं बीतते और एक ही पुस्तक के आधार पर बीस संप्रदाय उठ खड़े

होते हैं। यदि ईश्वर ने सारी सच्चाई किसी पुस्तक-विशेष में लिख रखी हो तो उसने हमें वह पुस्तक इस भय से नहीं दी है कि हम उसके मूल के ऊपर कट न मरें। यह बात सच्ची जान पड़ती है। कारण यह है कि यदि ईश्वर ने ऐसी पुस्तकें दी होती जिसमें उसने सारी सचाइयाँ भर रखी हैं, तो उससे काम भी न चलता, कोई उसे समझता तो है ही नहीं। उदाहरण के लिये इंजील को और ईसाई धर्म के सारे संप्रदायों को ले लीजिए। सब एक ही वाक्य का अपना अपना अर्थ करते हैं और अपने अर्थ को ठीक और दूसरे के अर्थ को भ्रमात्मक बतलाते हैं। यही दशा अन्य धर्मों की भी है। मुसलमानों में अनेक संप्रदाय हैं, बौद्धों में भी अनेक मत हैं और हिंदुओं में तो सैकड़ों संप्रदाय होंगे। अब मैं आपके सामने इन बातों को इस अभिप्राय से रखता हूँ कि यह बात सिद्ध हो जाय कि सारे मनुष्यों को एक ही प्रकार के आध्यात्मिक विचार पर लाने के लिये जब जब प्रयत्न किया गया, तब तब सदा से विफलता ही होती आई है। यदि कोई मनुष्य कोई सिद्धांत निर्धारित करता है तो यह देखने में आता है कि जब वह अपने अनुयायियों से बीस मील पर जाता है, तो उनमें बीस संप्रदाय हो जाते हैं। आप देखिए कि यह सदा होता ही रहता है। आप सबको एक ही विचार पर नहीं ला सकते। यह सच्ची बात है और ईश्वर का धन्यवाद है कि ऐसा ही है। मैं किसी संप्रदाय का विरोधी नहीं हूँ। मैं प्रसन्न हूँ कि संप्रदाय बने हैं

और मेरी इच्छा है कि वे दिन दूने रात चौगुने होते जायँ। क्यों? कारण यह है कि यदि आप और मैं और सब लोग एक ही बात को सोचें, तब तो फिर कोई नया विचार करने को बचता ही नहीं। हम जानते हैं कि गति को उत्पन्न करने के लिये दो या अधिक शक्तियों के संघर्ष की आवश्यकता है। यह विचारों का संघर्ष है, विचारों का भेद है जिससे विचार की जाग्रति होती है। अब यदि हम सब लोगों का एक ही विचार हो तब तो हम लोग मिस्र की मोमियाई हो जायँगे, जो चुपचाप अजायबघर में पड़ी पड़ी एक दूसरे का मुँह ताका करती हैं। इसकी तो कुछ बात ही नहीं। भँवर और चक्कर तो बहती नदी ही में होते हैं। ठहरे पानी में कहीं भँवर नहीं उठते। जब धर्म मृत धर्म है, तब उसमें संप्रदाय कहाँ से होंगे? भेद जीवन का चिह्न है। जहाँ जीवन है, वहाँ वह अवश्य रहेगा। मेरी तो प्रार्थना है कि उनकी वृद्धि हो और अंत को जितने मनुष्य हैं, उतने ही संप्रदाय हो जायँ। एक एक का मार्ग अलग हो, प्रत्येक का धार्मिक विचार निराला हो।

पर यह अब भी है। इसमें प्रत्येक अपने ढंग पर विचार करता है। पर यह स्वाभाविक प्रवाह सदा से रोका जाता चला आया है और अब भी रोका जा रहा है। यदि तलवार खुले-आम न चलेगी तो कुछ और रास्ता निकलेगा। तनिक सुनिए कि न्यूयार्क के प्रसिद्ध उपदेशकों में से एक का क्या कथन है। उसका उपदेश है कि फिलिपाइन्सवालों को विजय कर लेना

चाहिए, क्योंकि बिना इसके उन्हें ईसाई धर्म की शिक्षा नहीं दी जा सकती। वे इस समय कैथलिक हैं; पर वह उनको प्रेसबिटीरियन बनाना चाहता है; इसी लिये वह अपनी जाति पर इस रक्तपात का घृणित दोष लादना चाहता है। कितनी भयानक बात है! और वह मनुष्य इस देश के बड़े उपदेशकों और बहुश्रुतों में गिना जाता है। संसार की दशा को देखिए कि ऐसे लोगों को ऐसी उद्धत बातें करते लज्जा नहीं आती; और यह भी देखिए कि लोग उसकी बातें सुनकर हर्ष से तालियाँ बजाते हैं! क्या यही सभ्यता है? यह बाघ, राक्षस या बनमानुष की रक्तपिपासा है जो अवस्थानुसार नया नाम धारण करके प्रकट हुई है। यह और हो ही क्या सकती है? भला सोचिए तो सही कि संसार के लिये यह कितनी भयानक बात है, कि प्राचीन काल में एक संप्रदाय के लोग दूसरे संप्रदायवालों को जहाँ तक उनसे बन पड़ता, मारने काटने का प्रयत्न करते थे। यह घटना पूर्वकाल में हो चुकी है; इतिहास इसका साक्षी दे रहा है। बाघ सो गया है, पर मरा नहीं है। अवसर मिलने की देर है। बस अवसर मिला कि वह कूदा और चीरने फाड़ने लगा। तलवार को जाने दीजिए और हथियारों की बात छोड़िए। यहाँ सारे हथियारों से भयानक हथियार उपस्थित है—घृणा, सामाजिक विद्वेष, सामाजिक बहिष्कार। उस समय इनकी चोट कड़ी ही नहीं भारी भी होती है, जब इनका प्रहार उन लोगों पर होता है

जिनके विचार हमारे विचारों से विरुद्ध हैं। सब लोगों के विचार हमारे ही से क्यों हों ? मुझे तो कोई कारण नहीं देख पड़ता। यदि मैं युक्तिप्रमाण माननेवाला मनुष्य हूँ, तो मुझे प्रसन्न होना चाहिए कि उनके विचार हमारे से नहीं हैं। मैं श्मशानवत् स्थान में नहीं रहना चाहता; मैं तो मनुष्य होकर मनुष्यों के बीच में रहना चाहता हूँ। विचारवान् मनुष्यों में मतभेद अवश्य रहेगा। विचारमत्ता का पहला लक्षण मतभेद ही है। यदि मैं विचारवान् मनुष्य हूँ, तो मैं तो विचारवानों में ही, जहाँ मतभेद है, रहना चाहूँगा।

फिर प्रश्न यह उठता है कि ये सब भेद सत्य कैसे हो सकते हैं ? यदि एक बात सत्य है तो जो उसके विरुद्ध है, वह मिथ्या होगी। परस्पर विरुद्ध मत एक ही समय में सत्य कैसे हो सकते हैं ? यही प्रश्न है जिसका समाधान करना मुझे अभीष्ट है। पर मैं पहले आपसे यह प्रश्न करूँगा कि क्या संसार के सब धर्म सचमुच परस्पर विरुद्ध हैं ? मेरा अभिप्राय उनके बाहरी रूप से नहीं है, जिसके भीतर बड़े बड़े विचार छिपे हुए हैं। मेरा अभिप्राय मंदिरों से, भाषा से, कर्मकांड से और पुस्तकादि से नहीं है, जिनका काम भिन्न भिन्न मतों में पड़ता है; अपितु मेरा आशय धर्म के भीतरी तत्व से है। प्रत्येक धर्म की आड़ में उसका तत्व है। एक धर्म का वह तत्व दूसरे धर्म्म के तत्व से विभिन्न हो सकता है; पर क्या वे दोनों परस्पर विरुद्ध हैं ? क्या उनसे औरों का खंडन होता है वा

पूर्ति होती है ? जब मैं नितांत बच्चा था, तभी से मेरा विचार इसकी ओर गया और मैं जन्म भर इसीको विचारता रहा हूँ। यह समझकर कि मेरे निकाले परिणाम से आपको भी कुछ सहायता मिलेगी, मैं उसे आपके सामने प्रकट करता हूँ। मेरा विश्वास है कि वे विरोधी नहीं हैं, वे पूरक हैं। प्रत्येक धर्म, बड़े व्यापक धर्म के एक अंश को ले लेता है और उसी अंश को लेकर उसे आकार देने और आदर्श बनाने में अपना सारा बल लगाता है। यही कारण है कि यह अन्वय है, व्यतिरेक नहीं है। यही विचार है। मत पर मत उत्पन्न होते जाते हैं। सबमें कुछ न कुछ महत्वपूर्ण विचार होते हैं और आदर्श पर आदर्श बढ़ते जाते हैं। मनुष्यता की गति यही है। मनुष्य मिथ्या से सत्य की ओर नहीं जाता, अपितु सत्य से सत्य को पहुँचता है; कम सत्य से बड़े सत्य को पहुँचता है। पर मिथ्या से कभी सत्य की उत्पत्ति नहीं होती। पुत्र पिता से कितना ही क्यों न बढ़ जाय, इससे क्या पिता कुछ था ही नहीं ? पुत्र में पिता भी है और कुछ और भी है। यदि आपका ज्ञान इस समय आपके बचपन के ज्ञान से अधिक है, तो क्या आप बचपन के ज्ञान का तिरस्कार करेंगे? क्या उसे देखकर यह कहेंगे कि वह कुछ नहीं था ? क्यों ? आपके वर्तमान ज्ञान में बचपन का ज्ञान और कुछ और बात मिली हुई है।

और फिर हम यह भी जानते हैं कि एक ही पदार्थ के विषय में संभव है, नितांत विरुद्ध मत हों, पर वे सब एक ही

के ज्ञापक हों। मान लीजिए कि एक मनुष्य सूर्य्य की ओर जा रहा है और ज्यों ही वह आगे जाता है, सूर्य्य की एक एक प्रतिकृति स्थान स्थान से लेता जाता है। वह आकर सूर्य्य की बहुत सी प्रतिकृतियाँ हमारे सामने रख देता है। हम देखते हैं कि कोई दो एक सी नहीं हैं। पर यह कौन कहेगा कि यह सूर्य्य की प्रतिकृति नहीं है जो भिन्न स्थान से ली गई है। इसी गिरजे की चार प्रतिकृतियाँ भिन्न भिन्न कोनों से लीजिए; वे कितनी विभिन्न देख पड़ेंगी। पर वे सब इसी गिरजे की हैं। इसी प्रकार हमने सत्य को भिन्न भिन्न स्थानों से देखा है। यह अंतर हमारे जन्म, शिक्षा और संसर्ग आदि के कारण है। हम सब सत्य को देखते हैं । अवस्थाओं या परिस्थितिओं के अनुसार हम उसे ग्रहण करते हैं। हम उस पर अपने अंतःकरण का रंग देते हैं, अपनी बुद्धि के अनुसार उसे समझते हैं और अपने मन में उसे धारण करते हैं। हम सत्य को उतना ही जान पाते हैं जितना हमसे संबंध है, जितना हम उसके पाने के योग्य हैं। इसी से मनुष्य मनुष्य में भेद पड़ता है और इसी से कभी कभी विरुद्ध विचार भी उत्पन्न होते हैं; पर हम सब उसी महान् व्यापक सत्य के साथ संबद्ध हैं।

मेरा अनुमान है कि ये सब भिन्न भिन्न धर्म ईश्वर की नीति में भिन्न शक्तियाँ हैं जो मनुष्य की भलाई के लिये काम कर रही हैं। इनमें से एक भी नष्ट नहीं हो सकती और न किसी का नाश है। जैसे आप प्रकृति की किसी शक्ति का नाश नहीं

कर सकते, वैसे ही आप इन आध्यात्मिक शक्तियों का भी नाश नहीं कर सकते । आप जानते हैं और देख चुके हैं कि सब धर्म ज्यों के त्यों जीते जागते हैं, समय समय पर उनका ह्रास वा वृद्धि भले ही होती रहे। कभी वे अपने अनेक अवरोधों को छिन्न भिन्न कर डालते हैं, कभी उनके अवरोध बढ़कर उनको घेर लिया करते हैं। पर बात एक ही है। तत्व उनमें भरा रहता है, उसका नाश नहीं होता। वह आदर्श जो प्रत्येक धर्म अपने सामने रखता है, सदा बना रहता है। अतः सब धर्म सोच-विचार के साथ आगे बढ़ते जा रहे हैं।

और वह विश्वव्यापक धर्म जिसका स्वप्न दार्शनिक आदि देख चुके हैं, अब तक है। वह यहीं है । जैसे मनुष्यों का विश्वव्यापक भ्रातृभाव अब तक है, वैसे ही विश्वव्यापक धर्म भी है। आपमें कौन ऐसा है जो देश देशांतर गया हो और जिसे सब जातियों में भ्रातृभाव न मिला हो ? मुझे तो सारे संसार में भ्रातृभाव ही मिला। सब अपने ही भाई देख पड़े। भ्रातृभाव है, बना है; केवल कुछ लोगों को दिखाई नहीं देता और वे नए भ्रातृभाव के लिये चिल्ला रहे हैं। विश्वव्यापक धर्म भी पहले से है। यदि उपदेशक और धर्माचार्य्य लोग, जिन्होंने अपने सिर भिन्न भिन्न धर्मों के प्रचार का ठेका ले रखा है, थोड़ी देर के लिये प्रचार रोक दें, तो देखिए कि वह भ्रातृभाव प्रकट होता है कि नहीं। वे उसमें सदा बाधा डाला करते हैं। इसी में उनका लाभ है। आप देखते हैं कि सब देशों

में बड़े बड़े पक्षपाती होते हैं। इसका कारण क्या है? संसार में बहुत कम ऐसे प्रचारक वा पंडे होंगे जो मनुष्यों के नेता हों। उनमें अधिकतर लोगों के पीछे जानेवाले और उनके दास हैं। यदि आप कहें कि सूखा है, तो वे सूखा बतावेंगे; आप कहें काला है, तो वे काला कहेंगे। यदि लोग आगे बढ़ते हैं तो पुजारी-पंडे भी आगे बढ़ते हैं। उनका पैर पीछे न रहेगा। अतः पंडों को दोष देने की जगह—जैसी कि पंडों के सिर दोष देने की चाल पड़ गई है—अपने आपको दोष देना चाहिए। आप जिसके पात्र हैं, वही आप पाते हैं। उस उपदेशक की क्या दशा होगी जो आपको नए और उच्च विचार का ज्ञान दे और आपको आगे बढ़ावे? उसके लड़के भूखों मर जायँगे और वह ठिकाने लग जायगा। उसे भी तो संसार में वैसे ही रहना है, जैसे आप रहते हैं। यदि आप आगे बढ़ेंगे तो वह भी कहेगा कि आगे बढ़िए। इसमें संदेह नहीं कि ऐसे इने गिने ही लोग होंगे जिन्हें लोकापवाद का भय न हो। ऐसे लोग सत्य ही को देखते और सत्य ही का आदर करते हैं। उन पर सत्य का अधिकार हो गया है; वे सत्य के वश में हैं; उनके लिये लोक है ही नहीं। उनके लिये तो एक ईश्वर ही है। वही उनके सामने प्रकाश कर रहा है और वे उसके पीछे जा रहे हैं।

मैं इस देश के एक मोरमन सज्जन से मिला था। उसने मुझसे अपना धर्म स्वीकार करने के लिये कहा। मैंने उससे कहा कि मैं आपके विचार का आदर करता हूँ; पर कुछ बातों में

मैं आपके साथ सहमत नहीं हूँ। मैं संन्यासी हूँ, आप बहु-विवाह के पक्षपाती हैं। पर आप भारतवर्ष में जाकर उपदेश क्यों नहीं करते ? यह सुनकर वह विस्मित हो गया और बोला कि आप तो विवाह न करने को अच्छा मानते हैं और मैं बहु-विवाह को अच्छा मानता हूँ; फिर भी आप कहते हैं कि मैं आपके देश में जाऊँ। मैंने कहा, मैं ठीक कहता हूँ। मेरे देश में लोग सब धर्मों की बातें सुनते हैं, वे चाहे किसी धर्म के क्यों न हों। मेरी इच्छा है कि आप भारतवर्ष में जाइए। पहली बात तो यह है कि मैं वर्णाश्रम को मानता हूँ। दूसरी यह कि भारतवर्ष में ऐसे भी लोग हैं जो वर्णाश्रम धर्म से तुष्ट नहीं हैं और इसी असंतोष के कारण उनको धर्म से कोई काम नहीं है। संभव है कि वे आपकी बातें सुनें। जितने ही संप्रदाय अधिक होंगे, उतनी ही लोगों की धर्म पर रुचि अधिक होगी। जहाँ दूकान पर अनेक भाँति के व्यंजन हैं, वहाँ लोग यथा रुचि भोजन कर सकते हैं। अतः मैं तो यह चाहता हूँ कि संप्रदाय बढ़ते जायँ और लोगों को धार्मिक होने का अवकाश मिलता रहे। यह मत समझो कि लोगों की रुचि धर्म पर नहीं है। मैं इसे न मानूँगा। प्रचारक उन्हें उनकी आवश्यकता के अनुसार उप-देश नहीं करते। उसी मनुष्य को, जिसे लोग नास्तिक आदि कहा करते हैं, यदि किसी ऐसे मनुष्य से भेंट हो जाय जो उसकी आवश्यकता के अनुसार धर्म की शिक्षा दे, तो वही समाज में पूर्ण आस्तिक हो जाय। हम अपने ही प्रथानुसार भोजन करते

हैं। हम अपनी उँगलियों से जैसे उठाकर खा सकते हैं, आप वैसे उठाकर नहीं खा सकते। आपके लिये भोजन ही की आवश्यकता नहीं है, अपनी रीति पर खाने की भी आवश्यकता है। आपको न केवल आध्यात्मिक विचार की आवश्यकता है, अपितु आपकी रीति के अनुसार ही उसके उपदेश करने की भी आवश्यकता है। आवश्यकता है कि वे आप ही की भाषा बोलते हों—जो आपकी आत्मा की भाषा है—और तभी आपको संतोष होगा। जब कोई ऐसा मनुष्य आता है जो हमारी भाषा बोलता है और हमारी भाषा में सत्य का उपदेश करता है, तो वह झट हमारी समझ में आ जाता है और हम उसे स्वीकार कर लेते हैं। यह नितांत सत्य बात है।

अब इससे स्पष्ट है कि संसार में मनुष्यों के नाना भाँति के विचार होते हैं और धर्म का उन पर कैसा प्रभाव पड़ता है। एक मनुष्य दो तीन बातों को लेकर यह कहने लगता है कि मेरे धर्म से सब मनुष्यों को संतोष हो जायगा। वह संसार में ईश्वर के पशु-संग्रहालय ( Menagerie ) में एक पिंजरा हाथ में लिए जाता है और कहता है कि ईश्वर और हाथी और सब कुछ जो संसार में है, इसी पिंजरे में समा जायँगे। यहाँ तक कि हाथी को चाहे टुकड़े टुकड़े क्यों न करना पड़े, वह इसमें अवश्य आवे। फिर संसार में कोई ऐसा संप्रदाय भी हो सकता है जिसमें कुछ अच्छे विचार हों। वे लोग यह कहेंगे कि सब इसी के अनुयायी हो जायँ; पर उसमें उनके लिये अवकाश ही नहीं

है। कुछ परवाह नहीं, उनको टुकड़े टुकड़े कर डालो और उन्हें उसी में जैसे हो, भर दो। यदि वे उसमें न आवें, तो उन्हें बुरा-भला क्यों कहा जाय? आज तक मुझे कोई ऐसा संप्रदाय वा उपदेशक नहीं मिला जो तनिक रुककर यह तो पूछता कि भला इसका कारण क्या है कि लोग हमारी बात नहीं सुनते। इसमें संदेह नहीं कि वे लोगों को कोसा करते हैं और कहा करते हैं कि लोग बुरे हैं। पर वे अपने मन में यह नहीं विचारते कि लोग क्यों मेरी बात नहीं सुनते। मैं उन्हें सत्य क्यों नहीं दिखा सकता। मैं उनकी भाषा में क्यों नहीं उपदेश करता। मैं उनकी आँखें क्यों नहीं खोल देता। इसमें संदेह नहीं कि यह उन्हें समझना चाहिए कि यदि लोग मेरी बातें नहीं सुनते, तो इसमें मेरा ही दोष है। पर इसमें वे लोगों का दोष बतलाते हैं। वे अपने संप्रदाय को इतना विस्तृत नहीं बनाते कि सब उसमें आ सकें।

हम देखते हैं कि इस संकुचित-हृदयता का कारण यही है कि अंग अंगी होने का गर्व करता है, परिमित अपरिमित होने की डींग मारता है। भला एक छोटे संप्रदाय की ओर तो देखिए। अभी सौ दो सौ वर्ष हुए, भ्रमशील मनुष्य के मस्तिष्क से उत्पन्न हुआ है; पर फिर भी यह अभिमान कि मुझे ईश्वर के अनंत सत्य का पूरा ज्ञान है। तनिक इस उद्धत्ता को तो देखिए। कहीं ठिकाना है! यदि इससे कुछ प्रकट होता है तो वह यही कि मनुष्य भी कैसे वृथाभिमानी होते हैं। और इसमें आश्चर्य

क्या है, यदि उनका यह मान ध्वंस हुआ हो; और ईश्वर की कृपा से वह सदा ध्वंस होता रहेगा। इस संबंध में मुसलमान लोग अच्छे रहे। उनकी गति पग पग में तलवार के बल पर थी—एक हाथ में कुरान था और दूसरे हाथ में तलवार। कुरान पर विश्वास करो वा मरो। और कोई उपाय नहीं। आप इतिहास से जानते होंगे कि उनके धर्म का प्रसार कैसा बिजली की तरह हुआ है। छः सौ वर्ष तक कोई उनकी गति का अवरोध ही नहीं कर सका। फिर वह समय भी आया कि उनको रुकना पड़ा। यही परिणाम और धर्मों का भी होगा, यदि वे उसी मार्ग का अवलंबन करेंगे। हम ऐसे बाल-धी हैं; सदा मानवी प्रकृति को भूल जाया करते हैं। जब हमारा जन्म होता है, तब हम समझते हैं कि हम अलौकिक सफलता लेकर आए हैं; और चाहे कुछ हो, हम अपनी बात नहीं छोड़ते। पर ज्यों ज्यों बड़े होते जाते हैं, विचार बदलते जाते हैं। यही दशा धर्मों की भी है। जब वे प्रारंभिक अवस्था में रहते हैं और कुछ प्रसार हो चलता है, तब उनका यह अनुमान होता है कि थोड़े ही वर्षों में हम सारी मनुष्य जाति को पलट देंगे और मार-काट करते हुए बलपूर्वक अपना अनुयायी बनाते जाते हैं। पर अंत में जब उनको विफलता होती है, तब उनकी बुद्धि ठिकाने आती है। हम देखते हैं कि ये संप्रदाय अपने उद्देश को, जिसके लिये उनका आरंभ हुआ था और जो बड़ा ही लाभ-दायक था, पूरा नहीं कर सके हैं। तनिक सोचिए तो सही,

यदि कोई ऐसा धर्मोन्मत्त संप्रदाय संसार भर में फैल गया होता, तो आज मनुष्य को कहाँ ठिकाना मिलता। ईश्वर का धन्यवाद है कि उनको सफलता नहीं मिली। पर फिर भी सब में एक न एक सच्चाई है; प्रत्येक धर्म में कुछ न कुछ विशेषता है—वही उसमें सार है। मुझे एक पुरानी कहानी याद आती है। कुछ राक्षस थे जो नाना भाँति के उपद्रव और मनुष्यों का संहार करते थे; पर उनका नाश नहीं होता था। अंत को एक मनुष्य को इस बात का पता चला कि उनके मन एक चिड़िया में रहते हैं; और जब तक वह चिड़िया अछूती है, उनका नाश किसी प्रकार नहीं हो सकता। इस प्रकार हम सबके लिये कोई ऐसी चिड़िया है जिसमें हमारे मन बसते हैं; वही हमारा आदर्श है, वही हमारे जीवन का उद्देश है जिसको हमें पूरा करना है। प्रत्येक मनुष्य ऐसे आदर्श, ऐसे उद्देश का रूप है। चाहे जो कुछ जाता रहे, जब तक वह आदर्श बना है, उस उद्देश पर आघात नहीं पहुँचा है, आपका नाश किसी से न होगा। संपत्ति आवे और चली जाय, पर्वत के समान विपत्ति फट पड़े, पर जब तक आपका आदर्श सुरक्षित है, आपका नाश किसी से न होगा। आप बुड्ढे क्यों न हो जायँ, आपकी आयु सौ वर्ष की क्यों न हो गई हो, पर यदि आपका मन नवीन और अभिनव बना है, तो आपका नाश कौन कर सकता है? पर जब वह आदर्श चला गया, उस उद्देश पर आघात पहुँचा, तब आपकी रक्षा नहीं। आपको

कोई बचा नहीं सकता; सारी संपत्ति, संसार की सारी शक्तियाँ आपकी रक्षा नहीं कर सकतीं। और जातियाँ क्या हैं, व्यष्टियों के समूह ही तो हैं। जब तक जातियाँ अपने आदर्श को बनाए हुए हैं, कोई उनका नाश नहीं कर सकता। पर यदि कोई जाति अपने जीवन के उद्देश को त्याग दे और किसी और ओर चली जाय, तो उसकी आयु अल्प हो जाती है और वह जाति नष्ट हो जाती है।

यही अवस्था धर्म की भी है। इस बात से कि सब प्राचीन धर्म अब तक बने हैं, यह सिद्ध होता है कि वे अपने उद्देश को ज्यों का त्यों बनाए हुए हैं; उनका अंतःकरण, उनकी सारी भूलों, कठिनाइयों, विरोधों और उनके ऊपर कितनी ही तहों के चढ़ने के बाद भी हृष्ट पुष्ट है; उनका अंतःकरण धड़क रहा है और वे जीवित हैं। उनका एक भी उद्देश जिसे लेकर वे आए हैं, नष्ट नहीं हुआ है। उस उद्देश को जानना बड़े महत्व का काम है। उदाहरण के लिये मुसलमानी धर्म को लीजिए। ईसाई लोग संसार के किसी धर्म से इतनी घृणा नहीं करते जितनी मुसलमानी धर्म से करते हैं। उनका अनुमान है कि इससे निकृष्ट मत संसार में कोई है ही नहीं। ज्यों ही कोई मनुष्य मुसलमान होता है, सारे मुसलमान हाथ फैलाकर बिना किसी विचार के उसका स्वागत करते हैं। और कोई धर्म ऐसा नहीं करता। यदि कोई अमेरिकन इंडियन मुसलमान हो जाय तो टर्की के सुलतान तक को उसके साथ खाने में कोई आपत्ति न

होगी। यदि उसमें बुद्धि है तो उसे किसी पद की प्राप्ति में कोई बाधा नहीं है। इस देश में मैंने कोई गिरजा ऐसा नहीं देखा जहाँ गोरे और हबशी साथ साथ घुटने टेककर प्रार्थना करते हों। तनिक इस पर तो ध्यान दीजिए; मुसलमानी धर्म अपने सारे अनुयायियों को बराबर बनाता है। देखिए; मुसलमानी धर्म में यही विशेषता है। कुरान में बहुत स्थलों में अनेक विषयों की बातें पाई जाती हैं। पर इसकी कोई चिंता नहीं। मुसलमानी धर्म संसार में जो उपदेश करता है, वह यही अपने धर्मवालों का स्पष्ट भ्रातृभाव है। यही मुसलमानी धर्म का मुख्य मार्ग है; और सारी बातें जो स्वर्गादि के विषय में हैं, वे मुसलमानी धर्म नहीं हैं। वे सब बढ़ावे की बातें हैं।

हिंदुओं में भी एक जातीय भाव है। वह आध्यात्मिकता है। संसार के किसी धर्म में, किसी धर्म-पुस्तक में ईश्वर के लक्षण करने पर इतना श्रम नहीं किया गया है। उन लोगों ने आत्मा का ऐसा लक्षण करने का प्रयत्न किया है कि किसी सांसारिक संसर्ग से उसका नाश नहीं हो सकता। आत्मा ईश्वरी है; और आत्मा के स्वरूप को समझकर उसे शरीर न जानना चाहिए। वही अद्वैत का भाव, ईश्वर का साक्षात्कार, सर्वव्यापक के विचार का सर्वत्र उपदेश किया गया है। उनका विचार है कि यह बात कि वह स्वर्ग में है और अन्य सारी बातें प्रलाप मात्र हैं। यह सब केवल मनुष्यों के विचार हैं कि सब को मनुष्यों ही का रूप दे रखा है। स्वर्गादि जो पहले थे,

वे अब भी हैं और यहीं हैं। ये न तो सिद्धांत के मानने की, न उस पर विश्वास करने की और न कहने की बातें हैं। यदि ईश्वर है तो क्या आपने उसे देखा है? यदि आप कहें—'नहीं' तो आपको उसपर विश्वास करने का अधिकार क्या है? यदि आपको संदेह है कि ईश्वर है वा नहीं, तो उसे देखने का प्रयत्न आप क्यों नहीं करते? फिर आप संसार को छोड़ क्यों नहीं देते और अपना सारा जीवन इसी पर क्यों नहीं लगाते हैं? त्याग और आध्यात्मिकता भारतवर्ष के दो बड़े भाव हैं; और यही कारण है कि इन दोनों भावों से उसके सारे दोषों की गिनती कुछ नहीं मानी जाती।

ईसाइयों में भी प्रधान बात, जिसका उपदेश है, वही है; अर्थात् जागते रहो और प्रार्थना करते रहो, क्योंकि स्वर्ग का राज्य आनेवाला है। इसका आशय यही है कि अपने मन को शुद्ध करो और उद्यत रहो। आपको स्मरण होगा कि ईसाई लोग यहाँ तक कि घोर अंधकार के समय में, अत्यंत पक्षपातपूर्ण ईसाई देशों में सदा भगवान् के आने के लिये दूसरों की सहायता करके, चिकित्सालय आदि बनवाकर अपने को उद्यत रखने का प्रयत्न करते रहे हैं। जब तक ईसाई लोग यह आदर्श बनाए हुए हैं, उनका धर्म बना है।

अब मेरे मन में एक और आदर्श आ रहा है। संभव है कि वह स्वप्न की बात हो। मैं नहीं जानता कि कभी संसार में लोग इसे साक्षात् करेंगे वा नहीं। पर फिर भी कभी कभी

अच्छे स्वप्न देखना भी सूखी सच्ची बातों पर प्राण देने से शुभ ही होता है। महान् सत्य यदि स्वप्न में भी हो तो बुरी सच्ची बातों से तो अच्छा ही है। अतः हमें, स्वप्न ही सही, देखना चाहिए।

आप जानते हैं कि संसार में भिन्न भिन्न प्रकार के मनुष्य होते हैं। संभव है कि आप सचमुच युक्ति-प्रमाणवादी हों; आप भेद और रीति को न मानते हों; आपको बुद्धिग्राह्य, ठोस और सच्ची बातें चाहिएँ और उन्हीं से आपको संतोष है। फिर संसार में प्योरिटन ( Puritan ) और मुसलमान भी तो हैं। वे अपने मंदिरों में किसी चित्र वा प्रतिमा को जाने देना भी नहीं चाहते। बहुत अच्छा। पर एक और भी मनुष्य है जो बड़ा चित्रकार है। उसे चित्रकारी की बहुत अधिक आवश्यकता है— जैसे रेखाओं की, वलय की, रंगों की, फूलों की और रूपों की सुंदरता की। उसे ईश्वर के दर्शन के लिये दीपक, प्रकाश और अन्य कर्मकांड से बँधे उपाकरणों की आवश्यकता है। उसके मन में ईश्वर उन्हीं रूपों में दिखाई पड़ता है, जैसे आप उसे अपनी बुद्धि से देखते हैं। उसमें और किसी ईश्वर का भाव ही नहीं है। वह ईश्वर को पूजना और उसकी स्तुति मात्र करना जानता है। फिर संसार में दार्शनिक लोग भी हैं, जो सबसे न्यारे हैं। वे सब का ठट्ठा करते हैं। उनका विचार है कि ये लोग कैसे मूर्ख हैं, ईश्वर को क्या समझा रहे हैं।

वे लोग एक दूसरे पर भले ही हँसें, पर संसार में सब के

लिये स्थान है। भिन्न भिन्न विचारों और भिन्न भिन्न रीतियों का होना आवश्यक है। यदि कभी कोई आदर्श धर्म होनेवाला है, तो उसे विस्तृत होना चाहिए; उसमें इतना अवकाश होना आवश्यक है कि सब विचारवालों को उसमें अनुकूल स्थान मिल सके। उसमें दार्शनिकों को दर्शन की शक्ति मिल सके, उपासकों के मन में श्रद्धा उत्पन्न हो, कर्मकांडियों को उचित क्रियाकलाप मिले, पूजा करनेवालों को उचित प्रतीक मिले, और कवियों के लिये अपनी प्रतिभा दिखलाने की सामग्री रहे; और जिसे जो चाहिए, उसमें सब मिल सके। ऐसा विस्तृत धर्म बनाने के लिये हमें उस समय में जाना पड़ेगा जब सारे धर्मों का आरंभ हुआ था और उनकी सब बातों को एकीभूत करना पड़ेगा।

हमारा मूल मंत्र अन्वय होना चाहिए, व्यतिरेक नहीं। "गंगा गए गंगानाथ, यमुना गए यमुनाथ" न करना चाहिए। हाँ हाँ करना बुरी बात है। मैं इसे नहीं मानता। मैं तो अन्वय करने का पक्षपाती हूँ। मैं हाँ में हाँ क्यों मिलाऊँ? इसका तो अभिप्राय यही है कि मैं समझता हूँ कि आप भ्रम में हैं, और मैं आपको उसी में रहने देना चाहता हूँ। क्या यह अनुचित नहीं है कि हम और आप एक दूसरे को भ्रम में पड़ा रहने दें? मैं सभी प्राचीन धर्मों को मानता हूँ और सब का आदर करता हूँ। मैं तो ईश्वर को सबके साथ जिस रूप में वे पूजें, पूजता हूँ। मैं मुसलमानों के साथ मसजिद में जाऊँगा, ईसाइयों के

साथ गिरजे में जाऊँगा और क्रास के सामने घुटने टेकूँगा; मैं बौद्धों के मंदिर में भी जाऊँगा और बुद्ध और धर्म की शरण को प्राप्त हूँगा। मैं जंगल में जाऊँगा और हिंदुओं के साथ बैठूँगा जो उस प्रकाश को देखने के लिये प्रयत्न कर रहे हैं जो प्रत्येक हृदय में प्रकाशमान हो रहा है।

मैं न केवल यही करूँगा अपितु उन सबके लिये जो भविष्य में आनेवाले हैं, अपने हृदय में अवकाश रखूँगा। क्या ईश्वर की पुस्तक पूरी हो गई है वा अब भी साक्षात्कार होता जा रहा है? यह अद्भुत पुस्तक है—संसार का शृंखलाबद्ध साक्षात्कार। इंजील, कुरान, वेद और दूसरे पवित्र धर्मग्रंथ केवल उसके थोड़े से पन्ने हैं; अभी असंख्य पन्ने बंद पड़े हैं। मैं उन्हें सबके लिये खोल दूँगा। मैं वर्तमान काल में खड़ा हूँ, पर अपने को भविष्य में प्रकट करूँगा। मैं उन सबको जो पहले के हैं, ले लूँगा, वर्तमान काल के प्रकाश से लाभ उठाऊँगा और अपने अंतःकरण की एक एक खिड़की को उनके लिये खोल रखूँगा जो भविष्य में आनेवाले हैं। नमस्कार है प्राचीन काल के धर्माचार्य्यों को, नमस्कार है इस समय के महापुरुषों को और नमस्कार है उनको जो भविष्य में होनेवाले हैं।

## (२२) विश्वव्यापी धर्म का आदर्श ।

(भिन्न भिन्न विचारों और रीतियों का इसमें कैसे समावेश रहे)

हमारी इंद्रियाँ जहाँ तक पहुँचती हैं, हम अपने मन में जिन बातों को सोच सकते हैं, सर्वत्र हमें दो शक्तियाँ परस्पर विरुद्ध काम करती देख पड़ती हैं। उन्हीं की करतूत हमें संसार के सब कर्मों में दिखाई पड़ती है। सब उन्हीं से उत्पन्न हुए हैं। बाह्य जगत् में परस्पर विरुद्ध शक्तियाँ आकुंचन और संप्रसारण वा ऊर्ध्वगामिनी और अधोगामिनी शक्तियाँ कहलाती हैं; और आभ्यंतर जगत् में उन्हीं के नाम प्रेम, घृणा, शुभ, अशुभ आदि हैं। हम एक से राग करते हैं, दूसरे से द्वेष करते हैं। कभी एक को हमसे राग होता है, दूसरे को द्वेष होता है। हम देखते हैं कि हमें कभी कभी अपने जीवन में अकारण किसी से राग उत्पन्न हो जाता है। फिर दूसरे समय दूसरों से द्वेष भी होता है। यही सबकी दशा है। जितना ही जिसको अधिक काम पड़ता है, उतना ही इन शक्तियों का उस पर प्रभाव भी अधिक पड़ता है। मनुष्य के विचार और जीवन की सर्वोच्च भूमि धर्म है; और हम देखते हैं कि धर्म में इन दोनों शक्तियों के कर्म बड़े ही अद्भुत होते हैं। सबसे गाढ़ा प्रेम जिसका बोध कभी मनुष्य को हुआ है, धर्म से उत्पन्न हुआ है। और सबसे घोर पैशाचिक घृणा जिसका अनुभव मनुष्य जाति को कभी हुआ है, धर्म से उत्पन्न हुई है। शान्ति

मनोहर शांति का शब्द जो मनुष्य जाति को कभी सुनाई पड़ा है, वह धर्म की भूमि के लोगों के मुँह से सुनाई पड़ा है; और अत्यंत कटु वाक्य भी यदि कभी मनुष्य जाति के सुनने में आया होगा, तो वह भी धार्मिक लोगों ही के मुँह से सुनाई पड़ा होगा। किसी धर्म के आशय जितने ही ऊँचे हैं, जितने ही सूक्ष्म उसके संविधान हैं, उतने ही अधिक अपूर्व उसके व्यवसाय भी होते हैं। मनुष्य के किसी और उद्देश से संसार में उतना रक्तप्रवाह नहीं हुआ है, जितना कि धर्म से हुआ है। पर साथ ही इतने चिकित्सालय. धर्मशालाएँ और अनाथालय आदि भी और उद्देशों के कारण नहीं खुले होंगे। मनुष्य के किसी और भाव से, मनुष्य की तो बात क्या है, जीव जंतु तक की रक्षा का भी उतना काम कभी न हुआ होगा जितना धर्म से हुआ है। धर्म से बढ़कर न कोई क्रूर बना सकता है और न दयालु। ऐसा प्राचीन काल से होता आया है और संभवतः भविष्यत् में भी ऐसा ही होता जायगा। फिर भी धर्म और संप्रदायवालों के इस कलकल कोलाहल, इस मारकाट, इस लड़ाई-झगड़े, इस ईर्ष्या और घृणा में समय समय पर एक प्रबल शब्द उन सबको दबाता हुआ होता आया है जो एक छोर से दूसरे छोर तक सुनाई पड़ता है कि शांति धारण करो, समता का अवलंबन करो। क्या यह शब्द सदा आता रहेगा?

क्या यह संभव है कि इस पृथ्वी पर जहाँ घोर धार्मिक युद्ध मचा हुआ है, कभी अविच्छिन्न शांति का प्रसार हो

सकेगा ? इस शताब्दी के अंतिम भाग में संसार में साम्य भाव का प्रश्न उत्पन्न हुआ है। समाज के लिये नए ढंग सोचे गए और उन्हें काम में लाने के लिये अनेक प्रयत्न हुए; पर यह हम जानते हैं कि यह काम कितना कठिन है। जीवन में जो झमेले हैं, उन्हें मिटाना और मनुष्यों की दुर्बलताओं को दबाना लोगों को असंभव जान पड़ता है। यदि संसार में व्यवहार की दशा में शांति और समता का स्थापन करना, जो बाह्य, स्थूल और ऊपरी अवस्था है, इतना कठिन है तो मनुष्य के आभ्यंतर पर शांति और साम्य भाव स्थापित करना तो इससे सहस्र-गुणा कठिन है। मैं आपसे अनुरोध करूँगा कि थोड़े समय के लिये शब्द के जाल से बाहर निकल आइए और तनिक सोचिए तो सही कि हम लोग बचपन से ही प्रेम, शांति, दान, समदर्शिता और विश्वव्यापी भ्रातृभाव के नाम सुनते आ रहे हैं, पर वे आज तक हमारे लिये अर्थरहित शब्द-मात्र बने रहे हैं। हम उन्हें तोतों की भाँति बिना उनके वाच्यार्थ को समझे हुए कहते आ रहे हैं। ऐसा करना हमारे लिये सहज हो गया है। हम इसे छोड़ नहीं सकते। महात्माओं ने, जिनके हृदय में पहले पहल उत्तम भाव उदय हुए, इन शब्दों की रचना की और तब से अनेकों ने उनके वाच्यार्थों को समझा। उनके पीछे मूर्खों ने उन शब्दों को ले लिया और धर्म केवल शब्दों का खेल बन गया, उस कर्तव्य का विषय नहीं रहा। यह हमारे बापदादों का धर्म है, यह हमारा जातीय धर्म

है, यह हमारा देशधर्म है, इत्यादि हम कहा करते हैं। धर्म का रखना एक प्रकार की देशभक्ति हो गई है और भक्ति एकदेशी हुआ करती है। धर्म में समता का लाना सदा से कठिन काम रहेगा। पर फिर भी हम धर्म की इस समता पर विचार करेंगे।

हम देखते हैं कि सब धर्मों में तीन बातें हैं। यहाँ मेरा अभिप्राय संसार के बड़े बड़े सर्वमान्य धर्मों से है। उनमें सबसे पहले तो दर्शन का अंश है, जिसमें उस धर्म का सारा तात्पर्य्य है; जैसे उसके मूल सिद्धांत, उद्देश और उसकी प्राप्ति के साधन। दूसरा अंश पुराण है। वह स्थूल रूप में दर्शन ही रहता है। उसमें महात्माओं, देवताओं और ऋषियों आदि की कथाएँ होती हैं। उसमें दर्शनों के सूक्ष्म तत्व का स्थूल रूप में देव, ऋषि और महापुरुष आदि की प्रायः कल्पित कथाओं के द्वारा वर्णन होता है। तीसरा अंश कर्मकांड है। यह और स्थूल होता है। इसमें आचार, संस्कार, उपासना की पद्धतियाँ जैसे धूप, दीप, पुष्प, चंदन, मुद्रादि जिनसे देखनेवालों पर प्रभाव पड़ता है, रहा करते हैं। यह सब क्रिया-कलाप की बातें हैं। आपको ज्ञात होगा कि सर्वमान्य धर्मों में यही तीनों अंश वर्तमान हैं। अंतर यही है कि किसी में किसी की प्रधानता है, किसी में किसी की है। अब हम पहले दर्शन के ही अंश पर विचार आरंभ करते हैं। क्या कोई विश्वव्यापी दर्शन है? उत्तर यही है कि अब तक तो नहीं है। प्रत्येक धर्म के सिद्धांत न्यारे न्यारे हैं और वे उन्हीं को सत्य बतलाते हैं। वे न केवल इतना ही कहते हैं,

अपितु उनका विश्वास है कि जो इनकी बातें नहीं मानता, वह नरक में पड़ेगा। कितने तो दूसरों को मनवाने के लिये तलवार लेकर खड़े हो जाते हैं। इसका कारण दुष्टता नहीं है, अपितु यह मस्तिष्क का एक विशेष रोग है जिसे धर्मोन्माद कहते हैं। ये धर्मोन्माद रोग-ग्रस्त लोग बड़े सच्चे होते हैं। ऐसे सच्चे कम मनुष्य मिलते हैं। पर दुःख इतना ही है कि जैसे अन्य पागल संसार में अपने उत्तरदायित्व को नहीं समझते, वैसे इन्हें भी उसका बोध नहीं है। यह धर्मोन्माद का रोग सारे रोगों से अत्यंत दारुण रोग होता है। इससे मनुष्य की प्रकृति के सारे दुर्गुण जाग्रत हो जाते हैं। क्रोधाग्नि प्रज्वलि हो उठती है, नाड़ियों में रक्त का प्रवाह उबलने लगता है और मनुष्य पशु वा हिंसक जंतु बन जाता है।

क्या पुराणों में एकता है? क्या सबके पुराणों की बातें मिलती जुलती हैं? क्या कोई ऐसा भी पुराण है जिसकी बातें सब धर्मवाले मानते हों? इन प्रश्नों का उत्तर यही है कि ऐसा कहीं नहीं है। सब धर्मवालों के पुराण अलग अलग हैं। भेद यही है कि सब यह कहते हैं कि हमारी कथाएँ सत्य हैं। हम इस बात को उदाहरण से स्पष्ट करना चाहते हैं। उदाहरण से मेरा अभिप्राय किसी का खंडन करना नहीं है। ईसाइयों का विश्वास है कि ईश्वर पंडुक का रूप धारण करके पृथ्वी पर आया। वे इस कथा को सत्य मानते हैं; और पुराणों की बातें नहीं मानते। हिंदुओं का विश्वास है कि गौ ईश्वर का रूप है।

ईसाई कहते हैं कि ऐसा मानना पुराण की मिथ्या बात है; इतिहास की बात वा सत्य नहीं, अंध-विश्वास की बात है। यहूदियों का विश्वास है कि यदि कोई मंजूषा की आकृति की ऐसी प्रतिमा बनाई जाय जिसके दोनों ओर देवदूत बने हों, तो वह पवित्र से पवित्र स्थान में भी रखी जा सकती है; वही जेहोवा के लिये है। पर यदि किसी सुंदर स्त्री वा पुरुष की आकृति की प्रतिमा है, तो वे उसे त्याज्य बताते हैं और तोड़ डालने को कहते हैं। यही हमारे पुराणों की एकता है। यदि कोई खड़ा होकर यह कहता है कि हमारे धर्माचार्य्य ने अमुक अमुक बातें कीं, तो दूसरे यह कहने को झट उठ पड़ते हैं कि 'यह अंध विश्वास मात्र है'। पर वे यह नहीं सोचते कि जब वे अपने धर्माचार्य्य के संबंध में उससे भी अद्भुत अद्भुत बातों का करना वर्णन करते हैं, तब उन्हें ऐतिहासिक क्यों समझते हैं। इतिहास और पुराण में इन लोगों ने क्या अंतर समझ रखा है? जहाँ तक लोग मुझे मिले हैं, किसी की समझ में आज तक यह बात नहीं आई है। ऐसी कथाएँ चाहे जिस धर्म की हों, सचमुच कल्पित हैं। शायद ही उनमें कभी दैवयोग से इतिहास की कुछ चाशनी आ गई हो तो आ गई हो।

तदनंतर कर्मकांड आता है। एक संप्रदाय में एक प्रकार के कर्म होते हैं। वह उन्हें पवित्र समझता है और दूसरों के कर्म को अंध विश्वास बतलाता है। यदि एक संप्रदाय में प्रतीक विशेष की पूजा होती है, तो दूसरे उसे बुरा और जघन्य बत-

लाते हैं। उदाहरण के लिये एक साधारण प्रतीक को ले लीजिए। लिंग का प्रतीक एक स्पष्ट अंग है; पर उसके मुख्य अभिप्राय का बोध अब जाता रहा है और अब वह कर्ता (ईश्वर) का एक प्रतीक मात्र रह गया है। जो लोग इस प्रतीक की उपासना करते हैं, वे उसे लिंग कभी नहीं समझते। उनके लिये वह प्रतीक है और बस इतना ही। पर दूसरी जाति का पुरुष उसे लिंग समझता और उसकी निंदा करता है। पर साथ ही वह स्वयं ऐसा काम करता है जो लिंग-पूजकों को घृणित जान पड़ता है। हम उदाहरण की दो बातें लेते हैं। एक तो लिंग की और दूसरी ईसाइयों के प्रसाद वा सेक्रामेंट (Sacrament) की। ईसाइयों के मत से लिंगपूजा घृणित है और हिंदुओं के विचार से प्रसाद वा सेक्रामेंट घृणित कर्म है। उनका कथन है कि ईसाइयों का प्रसाद-भक्षण पैशाचिक कृत्य है, क्योंकि वे मनुष्य को मारकर उसके सद्गुणों की प्राप्ति के लिये उसका मांस खाते और रक्तपान करते हैं। कोई कोई जंगली जातियाँ अब तक यही करती हैं। यदि कोई वीर पुरुष होता है, तो वे उसे मार डालती हैं और उसका कलेजा खाती हैं। उनकी धारणा है कि इससे उस मनुष्य के साहस और पराक्रम हममें आ जायँगे। सर जान लबक सरीखे पक्के ईसाई भी इसे स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि ईसाई धर्म के इस विचार का मूल यही जंगलियों का विचार है। इसमें संदेह नहीं कि ईसाई इस विचार को, जो उसके कारण के संबंध में है, नहीं

मानते। इसका अर्थ ही उनकी समझ में नहीं आता। यह एक पवित्र पदार्थ का प्रतीक है वा उसके लिये आता है, बस इतना मात्र वे जानना चाहते हैं। अतः कर्मकांड में भी कोई विश्वव्यापी प्रतीक नहीं है जिसे सब लोग मानते और स्वीकार करते हों। फिर विश्वव्यापकता कहाँ रही? फिर विश्व मात्र में एक धर्म का होना कैसे संभव है? पर वह है और अब तक है। अब हम देखते हैं कि वह क्या है।

हम सब विश्वव्यापी भ्रातृत्व की बातें सुनते हैं। समाज एक मात्र इसी का उपदेश करने के लिये बनते हैं। मुझे एक पुरानी कहानी याद आती है। भारतवर्ष में मद्य पीना बड़ा पाप समझा जाता है। दो भाई थे। दोनों ने मिलकर एक बार रात को छिपकर मद्य पीना चाहा। उनका चचा जो बड़ा ही कट्टर हिंदू था, पास की कोठरी में सोता था। इसी भय से पीने के पहले उन लोगों ने परस्पर यह कहा कि भाई, हम बोलें नहीं; नहीं तो चचा जाग जायँगे। जब मद्यपान हुआ, तब भी वे दोनों परस्पर यही कहते रहे—चुप रहो, नहीं तो चचा जाग जायँगे। और यही बात वे एक दूसरे को चुप कराने के लिये बार बार कहते रहे। उनका चिल्लाना बढ़ता गया और उनका चचा जाग उठा और जहाँ वे दोनों थे, आया और सारा भाँड़ा फूट गया। हम लोग मद्यपों की भाँति विश्वव्यापी भ्रातृभाव का नाम लेकर चिल्ला रहे हैं। "हम सब बराबर हैं, आओ हम लोग एक संप्रदाय खड़ा करें।" ज्यों ही आप संप्र-

दाय खड़ा करते हैं, आप साम्यवाद के विरुद्ध हो जाते हैं। फिर तो समता नाम को भी नहीं रह जाती। मुसलमान विश्वव्यापी भ्रातृभाव का उपदेश करते हैं, पर उसका सचमुच क्या फल हुआ? जो मुसलमान नहीं है, वह भ्रातृभाव में क्यों नहीं लिया जाता? उसका वे लोग गला क्यों काटते हैं? ईसाई विश्वव्यापी भ्रातृभाव की बातें करते हैं; पर जो ईसाई नहीं है, उनके विचार से वह वहाँ जाता है, जहाँ वह सदा आग में जलता रहेगा।

अच्छा चलो, हम लोग संसार में विश्वव्यापी भ्रातृभाव और साम्यवाद को चलकर ढूँढ़ें तो सही। पर मेरी यह बात मानना कि जहाँ कहीं तुमको ऐसी बातें सुनाई दें, चुपचाप दूर खड़े रहना और उनसे बचना; क्योंकि ऐसी बातों की ओट में प्रायः घोर स्वार्थ छिपा रहता है। जाड़े के दिनों में जब बादल होता है, तब गरजता बहुत है पर बरसता कुछ नहीं; पर बरसात के दिनों में बादल गरजता नहीं, वह पानी काट देता है और सारी पृथ्वी पानी से भर जाती है। इसी प्रकार जो सच्चे कर्म करनेवाले हैं, जो सचमुच अपने अंतःकरण से विश्वव्यापी भ्रातृभाव को समझते हैं, वे बहुत बका नहीं करते और न विश्वव्यापक भ्रातृभाव के लिये संप्रदाय ही खड़ा करते हैं। पर उनके आचार, कर्म, व्यवहार और सारा जीवन इस बात को प्रमाणित करता है कि उनमें सचमुच विश्वव्यापी भ्रातृभाव का ज्ञान है, और उनको सबसे प्रेम है और सबके साथ

सहानुभूति है। वे बकते नहीं; वे काम करते हैं, आजन्म काम करते हैं। संसार में व्यर्थ की बकवाद बहुत है। हमें कुछ काम करके दिखलानेवालों की आवश्यकता है जो अधिक बकें नहीं।

यहाँ तक तो हम देख चुके हैं कि धर्म का कोई विश्व-व्यापक रूप दिखाई पड़ना कठिन है। पर फिर भी हम यह जानते हैं कि वह है। हम सब मनुष्य हैं; पर क्या हम सब बराबर हैं? वास्तव में नहीं। कौन कहता है कि हम बराबर हैं? केवल वही जो पागल हैं। क्या हमारी बुद्धि, हमारे बल, हमारे शरीर सब बराबर ही हैं? एक मनुष्य दूसरे से बली है, एक मनुष्य दूसरे से बुद्धिमान् है। यदि हम सब बराबर ही हैं तो यह विषमता क्यों है? इसे किसने उत्पन्न किया है? हम ही ने तो। कारण यही है कि हममें न्यूनाधिक बल है, न्यूनाधिक पराक्रम है; इसी से हममें यह भेद है। फिर भी हम जानते हैं कि साम्यवाद का सिद्धांत हमारे मन को भला लगता है। हम सब मनुष्य हैं; पर कोई पुरुष है, कोई स्त्री है। यह एक काला मनुष्य है, वह एक गोरा है। पर सब मनुष्य मानवजाति के ही हैं। हमारे चेहरे में भेद है। मैं देखता हूँ कि दो के रूप एक से नहीं हैं। पर हैं सब मनुष्य ही। यह मनुष्यता क्या है? मैं देखता हूँ, कोई स्त्री है तो कोई पुरुष; कोई काला है तो कोई गोरा। पर मैं जानता हूँ कि इन सारे रूपों में एक कूटस्थ मनुष्यता है जो सब में व्याप्त है। यदि मैं उसे पकड़ना चाहूँ वा उसे देखना चाहूँ वा उसे साक्षात्कार करना चाहूँ तो संभव

है कि वह मुझे न मिले; पर मुझे निश्चय है कि वह है"। यदि मुझे किसी वस्तु का निश्चय है तो इसी मनुष्यत्व का है जो सब में है। इसी सामान्य सत्ता के सहारे हम आपको स्त्री वा पुरुष के रूप में देखते हैं। यही विश्वव्यापी धर्म है जो सारे धर्मों में ईश्वर के रूप में व्याप्त हो रहा है। यह अब तक है और अनंत काल तक बना रहेगा। मैं धागे के समान सारे मनकों में हूँ और मनके यही धर्म वा संप्रदाय हैं। यही सब मनके हैं और भगवान् सूत्ररूप हैं जिनमें वे सब गुंथे हुए हैं। भेद केवल इतना ही है कि जनसाधारण को उसका बोध नहीं है।

अनेकता में एकता का होना ही विश्व का धर्म है। हम सब मनुष्य हैं और ऐसा होते हुए भी हम एक दूसरे से पृथक् हैं। मनुष्य होते हुए हम सब एक ही हैं, पर नाम-रूप भेद से मैं और आप सब अलग अलग हैं। पुरुष के रूप में आप स्त्री से पृथक् हैं और मनुष्य के रूप में आप और स्त्री एक ही हैं। मनुष्य के रूप में आप पशु से विलग हैं, पर प्राणी वा जीवधारी के रूप में स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, वृक्ष-वनस्पति सब एक ही हैं और सत्ता रूप में आप और विश्व एक हैं। वही विश्वव्यापी सत्ता ब्रह्म वा विश्व की एक मात्र सत्ता है। उसी में हम सब एकीभूत हैं। पर इसके साथ ही व्यक्तावस्था में यह भेद सदा रहेगा। हमारे कर्मों में, हमारी शक्तियों में जब वे संसार में व्यक्तावस्था में हैं, वह भेद सदा रहेगा। अतः यह स्पष्ट है कि "यदि विश्वव्यापी धर्म का यह

अर्थ है कि सारे संसार के लोगों का एक ही धार्मिक सिद्धांत हो जाय, तो ऐसा होना नितांत असंभव है। ऐसा कभी हो नहीं सकता। ऐसा समय कभी आवेगा ही नहीं जब सबके रूप एक ही साँचे में ढले से होंगे। यदि हम यह आशा रखें कि कभी संसार में एक विश्वव्यापक पुराण रह जायगा, तो यह भी असंभव है। ऐसा कभी होगा नहीं; न कभी संसार में एक ही कर्मकांड का प्रचार होगा। ऐसी बात कभी होने की नहीं। और यदि यह कभी हो भी जाय तो संसार का नाश हो जायगा, सृष्टि ही न रहेगी। सृष्टि का मुख्य लक्षण भेदों का होना ही है। हम रूपवान् वा विग्रहवान् क्यों हैं? इसी भेद के कारण न। अत्यंत साम्यभाव से तो नाश ही हो जायगा। मान लीजिए कि इस कोठरी में गरमी है और वह गरमी कोठरी भर में समान रूप से है, न कहीं कम न कहीं अधिक व्याप्त है। ऐसी गरमी तो किसी काम की न ठहरी। संसार में गति का कारण क्या है? केवल वैषम्यहीन समानता का न होना ही तो? एकाकारता, एकता वा अत्यंत साम्यावस्था तो तभी हो सकती है जब विश्व का संहार हो जाय। अन्यथा ऐसा होना सर्वथा असंभव है। इतना ही नहीं, ऐसा होने में भय भी है। हमें इसकी कभी इच्छा तक न करनी चाहिए कि सब एक से हो जायँ। फिर तो कुछ सोचने की बात ही न रह जायगी। हम सब अजायबघर की मोमियाई बन जायँगे और खड़े खड़े एक दूसरे को टकटकी

बाँधे देखा करेंगे। विचार करने के लिये कुछ बात रह ही न जायगी। यही भेद, यही वैषम्य, हम लोगों के बीच में ऐक्य का यही अभाव है जो हमारी उन्नति का कारण हुआ है, हम सबके सारे विचारों का मूल है। यह सदा रहेगा।

फिर विश्वव्यापी धर्म के आदर्श से हमारा अभिप्राय क्या है? हमारा अभिप्राय इससे कदापि यह नहीं है कि सारे संसार के लोग एक दर्शन के अनुयायी बनें, एक ही पुराण को मानें, एक ही कर्मकांड का अनुष्ठान करें। मैं जानता हूँ कि संसार का यह चक्र, जिसमें चक्कर के भीतर चक्कर और पेंच के भीतर पेंच हैं, जो अत्यंत घुमाववाला और अद्भुत है, सदा चलता रहेगा। तो हम करें क्या? हमारा काम यही है कि हम ऐसा करें कि जिससे यह ठीक रूप से चलता जाय, घिसे नहीं, इसमें तेल पड़ता जाय। पर यह करें तो कैसे करें? यह केवल भेद की आवश्यकता के बनाए रहने से ही हो सकता है। जैसे हम अपने स्वभाव से एकता को बनाते हैं, ठीक वैसे ही भेद को भी बनाए रहना चाहिए। हमें यह सीखना चाहिए कि सत्य लाखों प्रकार से प्रकाशित किया जा सकता है और सबके सब जहाँ तक उनका संबंध है, ठीक हैं। हमें यह जानना चाहिए कि एक पदार्थ सैंकड़ों दृष्टियों से देखा जा सकता है, पर वह सब दृष्टियों से ठीक हो सकता है। उदाहरण के लिये सूर्य्य को ही ले लीजिए। मान लीजिए कि एक मनुष्य इस पृथ्वी पर से सूर्य्य को निकलते हुए देखता है। उसे वह

एक बड़ा गोला दिखाई पड़ता है। मान लीजिए कि वह सूर्य्य की ओर एक फोटो का केमरा लेकर जाता है और अपनी यात्रा में स्थान स्थान से उसकी प्रतिकृति लेता जाता है और सूर्य्य के पास पहुँच जाता है। एक स्थान की प्रतिकृति दूसरे स्थान की प्रतिकृति से भिन्न जान पड़ सकती है; और जब वह लौटकर आता है, तब वह स्थान स्थान की ली हुई प्रतिकृतियों को लाकर आपके सामने रख देता है। वे भिन्न भले ही हों, पर वे सब एक ही सूर्य्य की प्रतिकृतियाँ हैं। हम लोग जानते हैं कि वे सब एक ही सूर्य्य की प्रतिकृतियाँ हैं जो उसने भिन्न भिन्न स्थितियों से ली हैं। यही दशा ईश्वर की भी है। ऊँचे और नीचे दर्शनों में, अति परिष्कृत और भोंड़े पुराणों में, अति श्रेष्ठ और भावपूर्ण कर्मकांड से लेकर भूत-प्रेत की पूजा तक में, सब मनुष्य, सब जातियाँ, जानकर हो वा अनजान में, उसी ईश्वर की भावना कर रही हैं, उसी की ओर जा रही हैं। मनुष्य सत्य का जो कुछ आभास देख रहा है, उसी का आभास है, दूसरे का कहीं है। मान लीजिए कि हम सब अपने हाथों में पात्र ले लेकर तालाब में पानी भरने जाते हैं। जिसके पास कटोरा है, वह कटोरे में भरता है; जिसके पास घड़ा है, वह घड़े में भरता है। इसी प्रकार सब जल लाते हैं और पानी पात्र के आकार का हो जाता है। पर है सब पानी ही। वही भिन्न भिन्न पात्रों में तदाकार भासमान हो रहा है। यही दशा धर्म की भी है। हमारे चित्त पात्रवत् हैं; और सब

ईश्वर का साक्षात्कार करना चाहते हैं। ईश्वर पानी के समान है जो मन-रूपी पात्रों में भर रहा है और पात्र पात्र में उसके अलग अलग तदाकार रूप भासमान हो रहे हैं। पर है वह एक ही। वह सब रूप में ईश्वर ही है। यही विश्वव्यापकता का भाव है जो हमारी समझ में आ सकता है।

यहाँ तक तो सिद्धांत रूप में यह ठीक है। पर क्या कोई ऐसी भी रीति है कि धर्मों की यह एकता कर्म-रूप में परिणत की जा सके? हमें जान पड़ता है कि यह ज्ञान कि धर्म की सारी भिन्न भिन्न बातें सत्य हैं, बड़ा पुराना है। भारतवर्ष, सिकंदरिया, युरोप, चीन, जापान, तिब्बत और अंत को अमेरिका में भी इसके लिये सैकड़ों बार प्रयत्न किया गया है कि सारे धर्मों और संप्रदायों में प्रेम उत्पन्न हो, सब में एकता का संचार हो जाय। पर सब में विफलता हुई। कारण यही था कि उचित प्रणाली का अवलंबन नहीं किया गया। बहुतों ने इस बात को स्वीकार किया कि संसार के सारे धर्म ठीक हैं; पर उन सब धर्मों को एक सूत्र में बाँधने की कोई ऐसी व्यावहारिक रीति नहीं बतलाई गई जिससे उस ऐक्य में वे अपनी विभिन्नता को स्थापित रखते हुए साथ साथ चलें। वही रीति उपयोगी हो सकती है जिससे धर्म में किसी मनुष्य के व्यक्तित्व को धक्का न पहुँचे, उसका नाश न हो और सबको पारस्परिक एकता का ज्ञान हो जाय। पर इस बात को कहते हुए भी कि हम सब धर्मों के सारे विचारों को जिनका प्रचार है, लेंगे, जो जो उपाय

उनकी एकता के लिये किए गए, वे यह हुए कि सबको कुछ इने गिने सिद्धांतों पर लाया जाय; और इसका प्रतिफल यह हुआ कि सबको एक करने की जगह नए नए संप्रदाय उठ खड़े हुए और परस्पर वादविवाद और ठेलमठेला बढ़ता गया।

मेरी भी कुछ निज की प्रणाली है। मैं नहीं समझता कि वह काम में आ सकेगी वा नहीं, पर आपके सामने उसे विचार के लिये उपस्थित करता हूँ। मेरी प्रणाली यह है कि सबसे पहले मैं लोगों से यह कहूँगा कि इस वाक्य को स्मरण रखिए कि 'बिगाड़ो मत'। जो संशोधक दूसरों को मिटाना चाहते हैं, वे संसार की कुछ भलाई नहीं कर सकते। न तो किसी का ध्वंस करो न किसी को गिराओ-पड़ाओ। हाँ; यदि हो सके तो उसे बनाओ, सहायता दो। यदि न हो सके तो खड़े रहो और देखा करो कि क्या होता है। यदि तुम सहायता नहीं दे सकते तो हानि मत पहुँचाओ। किसी मनुष्य के विश्वास के विरुद्ध जब तक उसे वह विश्वास बना रहे, एक शब्द भी मुँह से मत निकालो। दूसरी बात यह है कि जो मनुष्य जिस दशा में है, उसे वहीं से सहायता देकर ऊपर उठाओ। यदि यह सत्य है कि ईश्वर सब धर्मों का केंद्र है और हम लोग सब उसी केंद्र की ओर भिन्न मार्गों से जा रहे हैं, तब तो यह निश्चय है कि हम सब कभी न कभी उस तक अवश्य पहुँचेंगे; और केंद्र पर पहुँचकर जहाँ सब मार्ग मिलते हैं, सब भेद-भाव आपसे आप जाते रहेंगे। पर जब तक हम वहाँ नहीं पहुँचते, भेद-भाव

मिटने के नहीं हैं। अपनी प्रकृति के अनुसार कोई एक मार्ग से जा रहा है, कोई दूसरे मार्ग से। पर यदि हम सब अपनी अपनी राह पर बढ़ते चले जायँ, तो अंत को सब वहीं पहुँच जायँगे। कारण यह है कि सब वहीं जाने के मार्ग हैं। सब लोग अपनी प्रकृति के अनुसार हृष्ट पुष्ट हो रहे हैं; यथा काल सब उस सर्वोत्कृष्ट सत्य को जानेंगे; क्योंकि अंततोगत्वा मनुष्य एक दूसरे को शिक्षा देंगे ही। इसमें आपका और मेरा काम क्या है? क्या आप समझते हैं कि आप किसी बच्चे को शिक्षा दे सकते हैं? आप नहीं दे सकते। बच्चा अपने आपको शिक्षा देता है। आपका काम यही है कि आप उसे अवसर प्रदान करें और अवरोध को हटा दें। पौधा बढ़ता है। क्या उसे आप बढ़ाते हैं? आपका काम यही है कि आप उसकी रुँधाई कर दें; कोई उसे खा न ले, यह देखते रहिए और आपके कर्तव्य की समाप्ति यहीं पर है। फिर तो पौधा आपसे आप बढ़ेगा। यही दशा मनुष्यों की आध्यात्मिक बाढ़ की भी है। आपको कोई सिखा नहीं सकता; कोई आपको आध्यात्मिक नहीं बना सकता। आपको स्वयं सीखना पड़ेगा; आपकी बाढ़ आपके भीतर से होगी।

एक बाहरी शिक्षक कर ही क्या सकता है? वह कुछ थोड़ा बहुत अवरोध को हटा सकता है। बस यही उसका काम है। अतः यदि आपसे हो सके तो सहायता दीजिए, पर बिगाड़िए मत। मनुष्यों को आध्यात्मिक बनाने के सारे विचार त्याग

दीजिए। यह असंभव है। आपका आपकी आत्मा के सिवा और कोई शिक्षक नहीं है। उसे पहचानिए। देखिए तो इसका क्या फल होता है। समाज में हम देखते हैं कि लोगों की प्रकृति कितनी भिन्न है। लोगों के विचार और रुचि सहस्रों प्रकार की हैं। उन सब का पूरा पूरा वर्गीकरण करना असंभव है। पर काम चलाने के लिये हम उनको चार विभागों में विभक्त किए लेते हैं। पहले तो काम करनेवाले हैं। वे काम करना चाहते हैं और उनके हाथ-पैर में अमोघ शक्ति भरी है। उनका उद्देश है काम करना, धर्मशाला आदि बनाना, दान आदि शुभ कर्म करना, ढंग सोचना और उसका प्रबंध करके दिखलाना। फिर उनके अतिरिक्त वैकारिक लोग हैं जो सुंदर और मनोहर पदार्थों पर लट्टू रहते हैं, जो सुंदरता के ध्यान में मग्न हो जाते हैं, जिन्हें प्रकृति का सौंदर्य देखकर आनंद आता है और जो प्रेम और प्रेम के ईश्वर की उपासना करते हैं; जो सब काल के महात्माओं, धर्माचार्य्यों और ईश्वरांशावतारों पर श्रद्धा रखते हैं; जो इस बात की चिंता नहीं करते कि तर्क से वा युक्ति प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि नहीं कि ईसा और बुद्धदेव कभी थे। वे इस बात की चिंता नहीं करते कि किस दिन पर्वत के ऊपर ईसा ने उपदेश किया था वा भगवान् कृष्णचंद्र किस तिथि को उत्पन्न हुए थे। वे केवल इतना ही जानते हैं कि वे ईश्वरांश महात्मा थे और उन पर प्रेम रखते हैं। उनका आदर्श ऐसा ही है। भक्त का यही स्वरूप है, वैका-

रिक पुरुष के यही लक्षण हैं। इनके अतिरिक्त गूढ़ तत्वान्वेषी लोग हैं जिनका काम सदा अपनी आत्मा के अन्वेषण में, चित्त की वृत्तियों के जानने में, आभ्यंतर कर्म कैसे होते हैं, आंतरिक शक्ति कैसे बढ़ाई जाय, उन पर अधिकार कैसे प्राप्त हो इत्यादि बातों की छानबीन में लगा रहना है। यही गूढ़ तत्वान्वेषियों के लक्षण हैं। इनके अतिरिक्त दार्शनिक लोग हैं जो प्रत्येक पदार्थ की जाँच किया करते हैं और सारे मानव विज्ञान के परे अपनी बुद्धि से पहुँचने के प्रयत्न में लगे रहते हैं।

अब यदि कोई ऐसा धर्म हो जिसमें अधिकतर लोग आ सकें, तो उसमें सबके लिये यथोचित सामग्री होनी चाहिए। जिसमें यह बात नहीं होती, उसी से सब संप्रदाय के लोग किनारा करके अलग हो जाते हैं। मान लीजिए कि आप ऐसे संप्रादयवालों के पास जाते हैं। जिसका उपदेश प्रेम और भक्ति का है, वे नाचते हैं, गाते हैं, रोते हैं और भक्ति का उपदेश करते हैं। पर ज्यों ही आप उनसे यह कहिए कि भाई आप जो कुछ करते हैं, सब ठीक है; पर मुझे इससे कुछ दृढ़ और ठोस पदार्थ चाहिए, कुछ युक्ति, प्रमाण और दार्शनिक बातें हों। मैं तो सब बातों को क्रमशः और युक्तियुक्त रूप से जानना चाहता हूँ। पर वे आपकी बात सुनते ही कह देंगे कि निकल जाइए; और यदि उनका बस चले तो आपको दूसरे लोक में भी पहुँचाने में कसर न रखेंगे। परिणाम यह होता है कि उस संप्रदाय में केवल वैकारिक प्रकृतिवालों को ही ठिकाना

मिल सकता है। दूसरों को सहायता देने की बात दूर रही, यदि उनसे बन पड़े तो दूसरों का नाश करने का वे भले ही उद्योग करेंगे। और सबसे निकृष्ट बात तो यह है कि वे दूसरों की सहायता भले ही न करें, पर अपने सच्चे प्रतीक को भी तो वे नहीं मानते। फिर ऐसे दार्शनिक लोग भी मिलते हैं जो भारतवर्ष और पूर्व के महत्व का राग अलापते रहते हैं और पचास पचास मात्राओं के बड़े बड़े आध्यात्मिक शब्द झाड़ा करते हैं। पर यदि मुझ सा कोई सामान्य पुरुष उनके पास पहुँच जाता है और उनसे यह कह बैठता है कि क्या आप मुझे अध्यात्म विद्या सिखा सकते हैं, तो वे हँस देते हैं और कहने लगते हैं कि 'आप मुझसे ज्ञान में बहुत नीची कोटि में हैं; अध्यात्म विद्या आपकी समझ में भला कैसे कावेगी?' यही ऊँचे ऊँचे दार्शनिक हैं। वे आपको केवल रास्ता दिखला देते हैं। इनके अतिरिक्त गूढ़ तत्वान्वेषी लोग हैं जो भिन्न भिन्न लोकों के पदार्थों की बातें करते फिरते हैं; चित्त की कितनी वृत्तियाँ हैं, मानसिक शक्ति के बल से क्या क्या सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, इत्यादि इत्यादि कहा करते हैं। पर यदि कोई सामान्य मनुष्य उनके पास पहुँच जाता है और उनसे कहता है कि आप मुझे कुछ सिद्धियाँ दिखलाइए, जिन्हें मैं भी करूँ; मैं तो उतनी ध्यान की बातें जानता नहीं; क्या आप मुझे मेरे योग्य कुछ बतला सकते हैं? तो वे हँसेंगे और कहेंगे कि 'इस मूर्ख को देखो। इतना बड़ा हुआ पर कुछ जानता सुझता नहीं। इसका तो जन्म ही

अकारथ गया।' यही बातें सारे संसार में हो रही हैं। मुझसे हो सके तो ऐसे संप्रदायों के अधिकारियों को पकड़कर एक कोठरी में बंद कर दूँ और उनके हँसते हुए रूप का चित्र खींचूँ।

यही आजकल के धर्म की अवस्था है। यही संसार की चाल है। मैं जिस धर्म का प्रचार करना चाहता हूँ, वह ऐसा धर्म है जिसे सब मान सकते हैं। वह ऐसा होगा जिसमें दर्शन के भाव, वैकारिक भाव, गूढ़ तत्व और कर्म की सब बातें समान रूप से रहेंगी। यदि कालेजों के अध्यापक, वैज्ञानिक और भौतिक विद्याविशारद आवें तो उन्हें तर्क और युक्ति की बातें उसमें मिलें। उनको जो आवश्यकता हो, उसमें से ले लें। उसमें उससे भी अधिक बातें रहें जिसके आगे उनकी पहुँच विना युक्ति त्यागे न हो। वे कहेंगे कि ईश्वर और मोक्ष की बातें युक्तिविरुद्ध हैं, उन्हें छोड़ दो। मैं कहूँगा कि "भाई वैज्ञानिक, आपका यह शरीर तो बहुत बड़ी पक्षपात की वस्तु है; इसे छोड़ दीजिए। न खाना खाइए, न पठन पाठन का काम कीजिए। अपने शरीर को त्यागिए। यदि त्याग नहीं सकते तो आधी घड़ी बकवास कीजिए, बैठ जाइए।' क्योंकि धर्म ऐसा होना चाहिए जो यह बतला सके कि उस दर्शन की बातों को जो विश्व की एकता की शिक्षा देता है, कैसे साक्षात् किया जाय और कैसे जाना जाय कि इस विश्व में एक ही सत्ता है। यदि गूढ़ तत्वान्वेषी आ जायँ तो हमें उनका स्वागत करके

अभ्यास के लिये मानसिक विज्ञान देना चाहिए और उसका उनके सामने प्रतिपादन करना चाहिए; और फिर यदि वैकारिक लोग आ जायँ तो हमें उनके साथ ईश्वर-प्रेम का प्याला पीकर उन्मत्त हो जाना चाहिए। यदि उत्साही काम करनेवाले आ जायँ तो हमें उनके साथ मिलकर जहाँ तक हममें शक्ति है, काम करना चाहिए। इन सब बातों का जब मेल होगा, तब वह विश्वव्यापी धर्म होगा वा उसकी कुछ बराबरी का होगा। ईश्वर करे कि सब लोग ऐसे हो जायँ कि उनके अंतःकरण में दर्शन, तंत्र, विकार और कर्म के सारे भाव समरूप से भर जायँ। यही आदर्श है, यही मेरी समझ में आप्त-पुरुष का आदर्श है। जिसमें इनमें से एक वा दो ही बातें हों, मैं उसे अधूरा समझता हूँ। संसार में ऐसे ही अधूरे लोग भरे पड़े हैं जिन्हें केवल उसी मार्ग का ज्ञान है, जिससे वे जा रहे हैं। उसको छोड़कर उन्हें दूसरे सब मार्ग भयानक जान पड़ते हैं। इन चारों बातों पर सम भाव से ध्यान रखना ही मेरे धर्म का आदर्श है। इस धर्म की प्राप्ति उसीसे हो सकती है जिसे भारतवर्ष में योग कहते हैं, जिसका अर्थ है मिलाना। काम करनेवाले के लिये मनुष्यों का मनुष्य जाति मात्र में योग है। तांत्रिकों और गूढ़ तत्वान्वेषियों के लिये आत्मा और परमात्मा का योग है। प्रेमी जन के लिये प्रेमी और प्रेमपात्र का योग है; दार्शनिकों के लिये सत्ता मात्र का योग है। यही योग का अर्थ है। यह संस्कृत का शब्द है और इन चार

प्रकार के योगों का संस्कृत में अलग अलग नाम है। जो इस प्रकार के योग का अभ्यास करता है, उसे योगी कहते हैं। काम करनेवाले को कर्म-योगी कहते हैं। जो भक्ति वा प्रेम द्वारा योग करता है, भक्तियोगी कहलाता है। जो गूढ़ तत्व द्वारा योग की जिज्ञासा करता है, वह राजयोगी कहलाता है। जो दर्शन के द्वारा योग चाहता है, उसे ज्ञानयोगी कहते हैं। अतः योगी शब्द में सबका समावेश है।

पहले हम राजयोग को लेते हैं। राजयोग क्या है ? मन का वशीभूत करना किसे कहते हैं ? इस देश में योगी शब्द से संसार भर के ऐरे गैरे लिए जाते हैं; इसलिये मुझे भय है कि आप कहीं कुछ और न समझ लें। यही कह देना पर्य्याप्त है कि इन बातों का योगी से कोई संबंध नहीं है। इन योगों में कोई युक्ति को नहीं त्यागता और न आपसे यह कहता है कि आप युक्ति-प्रमाण को तिलांजलि देकर, आँखें मूँदकर किसी प्रकार के पंडे-पुजारी के हाथों में पड़ें। प्रत्येक का यही कथन है कि आप अपने युक्ति-प्रमाणों को लिए रहिए, उन पर डटे रहिए। हमें सब प्राणियों में तीन प्रकार के ज्ञान के साधन मिलते हैं। उनमें पहला सहज ज्ञान है। यह कम विकास-प्राप्त प्राणियों में पाया जाता है। ज्ञान का दूसरा साधन बुद्धि है। यह अत्यंत उन्नति-प्राप्त है और मनुष्यों ही में मिलती है। पहले तो सहज ज्ञान एक भोंडा साधन है; पशुओं में उसका कार्य्यक्षेत्र बहुत ही संकुचित रहता है और उसीके भीतर वह अपना काम

करता है। मनुष्यों में देखिए तो वही बहुत उन्नत हो जाता है और तर्क का रूप धारण कर लेता है। यहाँ उसका कार्य्यक्षेत्र भी बढ़ जाता है। पर बुद्धि भी पर्य्याप्त नहीं है। तर्क थोड़ी दूर चलता है, पर फिर रह जाता है, आगे नहीं बढ़ सकता। यदि आप उसे ठेलकर आगे बढ़ावें, तो इसका परिणाम यह होता है कि आप घबरा जाते हैं और फिर तर्क-बुद्धि आप उलटी बन जाती है। तर्क एक वृत्त में काम करता है। उदाहरण के लिये द्रव्य और शक्ति को ले लीजिए। हमारे प्रत्यक्ष के आधार ही यही दोनों हैं। द्रव्य है क्या? जिस पर शक्ति अपना काम करती है। और शक्ति क्या है? जो द्रव्य पर काम करती है।

आपने इस उलझन को देखा। इसी को नैयायिक अन्योन्याश्रय दोष कहते हैं। यदि एक ठीक है तो दूसरा भी ठीक है; और यदि दूसरा ठीक है तो पहला भी ठीक है। एक की सिद्धि दूसरे की सिद्धि पर और दूसरे की सिद्धि पहले की सिद्धि पर अवलंबित है। आप देखिए, अब तर्क के आगे काठ पड़ गया। इसके आगे तर्क की गति ही नहीं है। फिर भी वह सदा अनंत के लोक में जो इससे कहीं परे है, घुसने के लिये आतुर है। यह संसार, यह विश्व जिसे हम अपनी इंद्रियों द्वारा देखते-सुनते और अपने मन द्वारा समझते हैं, उस अनंत का एक अणुमात्र है, यदि वह बोध का विषय हो; और इसी संकुचित क्षेत्र के भीतर चेतनता के जाल में वेष्ठित हमारे तर्क विचार को काम करना पड़ता है। वह इसके आगे जा कैसे सकता है। अतः हमें

किसी और साधन की अपेक्षा है जो हमें इसके बाहर ले जाय; और इस साधन का नाम अवभास है। अतः सहज ज्ञान, तर्क और अवभास ज्ञान के ये तीन साधन ठहरे। सहज ज्ञान पशुओं का साधन है, तर्क मनुष्यों का और अवभास देवताओं का। पर सारे मनुष्यों में कम वा अधिक उन्नत रूप में इन तीनों ज्ञान के साधनों के बीज मिलते हैं। इन मानसिक साधनों को बढ़ाने के लिये बीज का वहाँ होना नितांत आवश्यक है। और यह भी स्मरण रखना चाहिए कि एक साधन दूसरे से प्रोन्नत होकर निकलते हैं, अतः वे विरोधी नहीं हैं। यह तर्क ही है जो प्रोन्नत होकर अवभास बन जाता है। अतः अवभास तर्क का विरोधी नहीं है, अपितु पूरक है। जिन बातों का ज्ञान तर्क द्वारा नहीं हो सकता, उनका ज्ञान अवभास से होता है। अवभास से तर्क का घात नहीं होता। वृद्ध पुरुष बच्चे का विरोधी नहीं है, अपितु पूरक है। अतः यह बात स्मरण रखिए कि सबसे बड़ी भूल लोग यह करते हैं कि छोटे साधन को बड़ा साधन मान बैठते हैं। कितनी बार बहुधा सहज ज्ञान को लोग अवभास समझ लेते हैं और इसका परिणाम यह होता है कि लोग भविष्यद्वक्ता होने की व्यर्थ की डींग मारने लगते हैं। एक मूर्ख वा आधा पागल यह सोच सकता है कि मुझे मस्तिष्क का विकार क्या हुआ, अवभास मिलने लगा; और वह चाहता है कि लोग मेरे अनुयायी हो जायँ। सबसे विरुद्ध और अयुक्त बातें जिनका संसार में उपदेश हुआ है, वह केवल

ऐसे ही विकृत मस्तिष्कों की सामान्य ज्ञान-जनित ध्वनि मात्र है जिसे वे अवभास के नाम से प्रख्यात करने का उद्योग करते रहे हैं।

आप्तोपदेश की पहली पहचान यह है कि वह तर्क के विरुद्ध न हो। और आप देखते हैं कि इन योगों का आधार ऐसा ही है। हम राजयोग ही को लेते हैं जो आध्यात्मिक वा मानसिक योग अर्थात् मिलने की मानसिक रीति है। यह बड़ा गहन विषय है और मैं आपके सामने योग के इस मुख्य विचार को रखे देता हूँ। हमारे पास ज्ञान की प्राप्ति का एक ही मार्ग है। साधारण मनुष्य से लेकर बड़े से बड़े योगी तक को इसी मार्ग का अवलंबन करना पड़ता है और यह मार्ग चित्त की वृत्ति की एकाग्रता है। रासायनिक जो प्रयोगशाला में काम करते हैं, अपनी सारी शक्तियों को अपने चित्त में एकाग्र करते हैं, सबको एक केंद्र पर लाते और उनको द्रव्यों पर लगाते हैं; और द्रव्यों का विश्लेषण हो जाता है और उनको उसका बोध हो जाता है। इसी प्रकार ज्योतिषी भी चित्त को एकाग्र करके एक केंद्र पर लाता है; और उसे अपने दूरवीक्षण यंत्र द्वारा पदार्थों पर डालता है; ग्रह नक्षत्र अपनी कक्षा में फिरते हुए अपना रहस्य उस पर प्रकट कर देते हैं। यही अवस्था सबकी है। अध्यापक चित्त की एकाग्रता से ही अध्ययन कराता है, विद्यार्थी चित्त की एकाग्रता से ही पढ़ता है और दूसरे जो ज्ञान प्राप्त करने के लिये काम करते हैं, सब चित्त की वृत्ति को एकाग्र करके

ही प्राप्त करते हैं। आप मेरी बातें सुन रहे हैं। यदि आपको मेरी बातें रुचती हैं तो आपके चित्त की वृत्ति उन पर एकाग्र हो जाती है; और आप जितना ही अपने चित्त को एकाग्र करेंगे, उतना ही आपको मेरा अभिप्राय समझ में आवेगा जिसे मैं आप पर व्यक्त करना चाहता हूँ। जितनी ही अधिक आप में अपने चित्त की वृत्तियों को एकाग्र करने की शक्ति होगी, उतना ही आपको अधिक ज्ञान प्राप्त होगा। कारण यह है कि ज्ञान के प्राप्त करने का यही एक मात्र साधन है। यहाँ तक कि जूते पर स्याही करनेवाला यदि अपने चित्त को एकाग्र कर ले, तो वह अच्छी स्याही करेगा; यदि रसोइए के चित्त की वृत्ति एकाग्र हो जाय तो वह पाक अच्छा करेगा। धनोपार्जन में, ईश्वरोपासना में, जितना ही अधिक चित्त एकाग्र होता है, उतना ही अच्छा फल मिलता है। यही एक मात्र मूल मंत्र है जिससे प्रकृति का कपाट खुल जाता है और प्रकाश की लहर भर जाती है। यही चित्त की एकाग्रता ज्ञान की निधि की एक मात्र कुंजी है। राजयोग के शास्त्रों में केवल इसी का वर्णन है। वर्तमान दशा में हमारे शरीर ( इंद्रियाँ ) अति चंचल हैं और हमारे मन की शक्तियाँ सैंकड़ों बातों पर बँटी हुई रहती हैं। ज्यों ही हम अपने चित्त को एकाग्र करने लगते हैं और उसकी वृत्तियों को ज्ञान के पदार्थ पर लगाते हैं, त्यों ही हमारे मस्तिष्क में सहस्रों प्रकार की प्रवृत्तियाँ अचानक घुस आती हैं और मन में सहस्रों विचार उठने लगते हैं और विघ्न पड़ जाता है।

राजयोग में इन्हीं बातों का वर्णन है कि इन अंतरायों को कैसे निवृत्त किया जाय और चित्त की एकाग्रता का संपादन कैसे हो, वह वश में कैसे आवे।

अब कर्मयोग को लीजिए जिसमें कर्मों के द्वारा ईश्वर की प्राप्ति होती है। यह स्पष्ट है कि समाज में बहुत से लोग हैं जो किसी न किसी प्रकार की प्रवृत्ति लेकर उत्पन्न हुए हैं, जिनके चित्त की वृत्ति विचार पर नहीं जमती और जिन्हें केवल स्थूल कर्मों के करने की ही धुन रहती है। इस प्रकार के जीवन के लिये भी कोई शास्त्र अवश्य होगा। हममें से सब लोग किसी न किसी काम में लगे रहते हैं; पर हममें अधिकांश की शक्तियों का अधिक अंश इस कारण नष्ट हो जाता है कि हमें कर्म के रहस्य का ज्ञान नहीं होता। कर्मयोग से हमें इस रहस्य का ज्ञान होता है। हमें इसका बोध हो जाता है कि किस स्थान पर और किस ढंग से काम करना चाहिए। उन कामों में जो हमें करने हैं, हम अपनी शक्तियों के अधिक अंश को किस प्रकार काम में लावें कि हमें अधिक लाभ हो। पर इस रहस्य के साथ ही साथ हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए जिससे कर्म करने में हमें दुःख होता है। सब दुःखों का कारण राग है। मैं काम करना चाहता हूँ। मेरी इच्छा है कि मैं मनुष्यों की भलाई करूँ। पर सौ में निन्नानवे यह देखा जाता है कि जिन लोगों की मैं भलाई करता हूँ, जिनको मैं सहायता देता हूँ, वे कृतघ्न निकल जाते हैं और मेरी बुराई

करते हैं; और फल यह होता है कि मुझे दुःख होता है। ऐसी बातों से मनुष्य का मन काम करने से हट जाता है। इससे बहुत सा काम बिगड़ जाता है और मनुष्य की शक्ति नष्ट हो जाती है। यह क्या है? यही दुःख का भय है। कर्मयोग हमें यह बतलाता है कि कर्म का विचार कैसे उदासीन रहकर किया जाय, बिना इस विचार के कि किसकी सहायता की जाती है और क्यों की जाती है। कर्मयोगी इसलिये काम करता है कि कर्म करना उसका धर्म है, इसलिये कि वह समझता है कि कर्म करना अच्छी बात है। उसे इससे अधिक कुछ भी प्रयोजन नहीं है। उसका पक्ष है कि संसार में देना ही धर्म है। वह पाने की आशा नहीं करता। वह जानता है कि मैं त्याग रहा हूँ; दे रहा हूँ। वह उस कर्म का बदला नहीं चाहता। इसी कारण वह दुःख के पंजे से बचा रहता है। दुःख जब कभी होता है, तब राग से ही उत्पन्न होता है।

अब भक्ति योग की ओर देखिए। यह वैकारिक लोगों के लिये है जिन्हें भक्त कहते हैं। वे ईश्वर की भक्ति करना चाहते हैं और उसपर उनको भरोसा रहता है और विविध भाँति के उपचार पुष्प, धूप, दीप, आसन, मूर्ति आदि का व्यवहार करते हैं। क्या आप यह कह सकते हैं कि वे भूले हैं। एक बात मैं आपसे कहता हूँ। यह आपके लिये विशेषतः इस देश में स्मरण रखने की बात है कि संसार में बड़े बड़े महात्मा लोग उन्हीं धर्मों में उत्पन्न हुए हैं, जिनमें सर्वोत्कृष्ट पुराण और कर्मकांड का

प्रचार रहा है। जिन संप्रदायों में ईश्वर को बिना किसी क्रिया-कलाप और प्रतीक के उपासना करने का प्रयत्न हुआ है, उनमें लोगों ने उन सारी बातों को जो धर्ममें भावोत्पादक और मनोहर हैं, नष्ट कर डाला है। उनका धर्म धर्मोन्माद मात्र है, सूखा है। संसार का इतिहास इसकी स्पष्ट साक्षी दे रहा है। इसलिये क्रिया-कलापों और पुराणों की निंदा मत कीजिए। लोगों को उन्हें काम में लाने दीजिए। जिनकी इच्छा हो, उन्हें रोकिए मत। घृणा से मुँह न बनाइए और यह कभी मत कहिए कि वे मूर्ख हैं, उन्हें मानने दो। बड़े लोग, जिन्हें मैंने अपने जीवन में देखा है और जो बड़े प्रबल आध्यात्मिक शक्ति-संपन्न थे, सब इसी कर्मकांड के अनुष्ठान से इस योग्य हुए थे। मैं तो उनके चरणरज के बराबर भी नहीं हूँ। फिर उनकी निंदा करने को तो बात ही और है। भला मैं यह कैसे जान सकता हूँ कि इन भावों का प्रभाव मनुष्य के अंतःकरण पर कैसे पड़ता है। मैं तो यह नहीं समझ सकता कि मैं किसको मानूँ और किसको छोड़ूँ। हमारा स्वभाव पड़ गया है कि संसार में सब बातों का बिना भली भाँति समझे बूझे खंडन किया करते हैं। लोगों को सारे पुराणों को, उनमें जो सुंदर अवभास हैं, उन सब को मानने दीजिए। आप अपने मन में यह बात समझ रखिए कि वैकारिक प्रकृति सत्य के सूक्ष्म लक्षणों पर अधिक ध्यान नहीं दे सकती। सच्ची बात तो यह है कि ईश्वर उनके विचार में कोई स्थूल और व्यक्त पदार्थ है। वे उसे देखते, सुनते, स्पर्श

करते और उसके साथ प्रेम करते हैं। उनके लिये उनका ईश्वर रहने दीजिए। आपके युक्ति-प्रमाणवादी उन्हें मूर्ख के समान जँचते हैं जो उनकी सुंदर मूर्तियों को पाकर उसे तोड़ फोड़कर यह देखने की चेष्टा करते रहते हैं कि वे किस पदार्थ से बनी हैं। भक्ति योग यह शिक्षा देता है कि बिना किसी फलोद्देश के ईश्वर की कैसे भक्ति की जाय। ईश्वर के साथ प्रेम करना सौंदर्य्य के साथ प्रेम करना है, इसलिये कि प्रेम करना अच्छी बात है, इसलिये नहीं कि हम स्वर्ग जायँ, इसलिये नहीं कि पुत्र धनादि मिले। इससे उनको यह शिक्षा मिलती है कि प्रेम का उत्तम फल प्रेम ही है—ईश्वर उनके लिये प्रेम स्वरूप है। यह उन्हें इस बात की शिक्षा देता है कि ईश्वर में सब गुणों का आरोप करो; वही स्रष्टा है, वही सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान्, शासक, माता, पिता सब कुछ है। सबसे श्रेष्ठ वाक्य जिसे उसका बोध हो सकता है, सबसे उत्तम भाव जो उसमें उसके संबंध में उत्पन्न हो सकता है, यह है कि ईश्वर प्रेम का ईश्वर है। जहाँ प्रेम है, वहाँ वह है। जहाँ प्रेम है, वहाँ वही है, वही भगवान् है। जहाँ पति पत्नी का चुंबन करता है, वहाँ वही चुंबन रूप में है; जहाँ माता अपने बालक का चुंबन करती है, वहाँ भी चुंबन के रूप में वही है। जहाँ मित्र अपने मित्र को आलिंगन करता है, वहाँ भगवान् उपस्थित हैं—वहीं प्रेम-मय ईश्वर हैं। जहाँ कोई महापुरुष मनुष्य जाति से प्रेम करता है और उसे सहायता देता है, वहाँ भगवान् ही उपस्थित हैं

और अपने प्रेम के भांडार से मनुष्य को दान बाँटते हैं। जहाँ तक मन जाता है, भगवान् साक्षात् प्रकट हैं। यही भक्ति योग की शिक्षा है।

अब हम अंत को ज्ञानयोगी की बात कहते हैं; अर्थात् उस दार्शनिक, उस चिंतक की जो प्रत्यक्ष के आगे जाना चाहता है। वह ऐसा पुरुष है जिसे इस संसार के तुच्छ पदार्थों से संतोष नहीं है। वह नित्यकर्म, खाने-पीने आदि से भी परे जाना चाहता है; यहाँ तक कि सहस्रों पुस्तकों की बातों से भी उसका तोष नहीं होता। यहाँ तक कि सारे विज्ञान से भी उसकी तृप्ति नहीं होती; उनसे उसे केवल इस छोटे लोक का कुछ ज्ञान मात्र हो जाता है। फिर और दूसरी बातों से उसकी क्या शांति हो सकती है? करोड़ों लोक लोकांतर उसे शांति नहीं दे सकते। वे सब उसके सामने सत्ता के समुद्र की एक बूंद के बराबर हैं। इन सबसे परे सत्य को देखकर कि वह है क्या, उसका साक्षात्कार करके, वही होकर और विश्वात्मा में एकीभूत होकर उसका मन सत्ता के भीतर घुसना चाहता है। वही दार्शनिक है; उसके लिये ईश्वर के माता, पिता, विश्वस्रष्टा, पालनकर्त्ता, उपदेष्टा, आदि भाव सब अपूर्ण जान पड़ते हैं और उसका यथार्थ बोध नहीं करा सकते। उसके लिये ईश्वर उसके प्राण का भी प्राण, उसकी आत्मा की भी आत्मा है। ईश्वर उसकी आत्मा ही है। उसके लिये ईश्वर के अतिरिक्त कुछ रह ही नहीं जाता। उसकी मनुष्यता दर्शन के भारी आघात से घिस जाती

है और झाड़ पोंछकर साफ कर दी जाती है। और जो अंत में उसमें बच रहता है, वह वही ईश्वर है।

एक ही वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं, एक ऊपर और दूसरा नीचे। जो ऊपर बैठा है, वह प्रशांत और अपने महत्व में मग्न है; और जो नीचे की डाली पर है, वह मीठा कड़ुआ फल खाता, एक डाली से दूसरी डाली पर उचकता फिरता है। वह कभी सुखी और कभी दुःखी होता है। थोड़ी देर में नीचे के पक्षी के मुँह में एक कड़ुआ फल पड़ता है और वह काँप उठता है, ऊपर ताकने लगता है और दूसरे पक्षी को देखता है कि उसका वर्ण कैसा सौम्य और तप्तकांचनाभ है। वह न तो मीठा फल खाता है न कड़ुआ, न सुखी होता है न दुःखी, अपितु वह प्रशांत और आत्मरम है। उसे अपने सिवा कोई दिखाई ही नहीं पड़ता। नीचे का पक्षी चाहता है कि मैं भी वैसा ही हो जाऊँ, पर वह चट भूल जाता है और फिर फल खाने लगता है। थोड़े काल के अनंतर उसके मुँह में फिर कोई कड़ुआ फल पड़ता है। वह बड़ा ही खिन्न-चित्त हो जाता है और ऊपर ताकने लगता है और ऊपर के पक्षी के पास पहुँचने का प्रयत्न करता है। वह फिर भूल जाता है और फिर ऊपर ताकता है और कुछ ऊपर उचककर जाता है। यहाँ तक कि उचकते उचकते वह उस पक्षी के पास पहुँचता है और देखता है कि उसके वर्ण का प्रतिबिंब मेरे पंख पर पड़ता है। उसमें परिवर्तन होने लगता है और वह सूक्ष्म होता जाता है। यहाँ

तक कि जब बहुत पास पहुँच जाता है, तब वह बिलकुल रह ही नहीं जाता और अब उसे जान पड़ता है कि वास्तव में मैं क्या था और क्या हो गया। बात यह थी कि नीचे का पक्षी वास्तव में ऊपर के पक्षी की छाया मात्र था, जो एक पक्षी के आकार का हो गया था। वह सचमुच वही था, दूसरा नहीं था। नीचे के पक्षी का मीठा कड़ुआ फल खाना, उसका सुखी दुःखी होना इत्यादि सब स्वप्न ही था। सदा वह पक्षी ऊपर ही था और प्रशांत, आनंदमय, सुख दुःख से परे था। ऊपर का पक्षी ईश्वर विश्व का अधीश्वर था और नीचे का मनुष्य की आत्मा थी जो संसार के सुख दुःख रूपी मीठे और कड़ुए फलों की भोक्ता थी। कभी कभी आत्मा पर भारी आघात पहुँचता है। थोड़ी देर के लिये उसका भोगना बंद हो जाता है और वह ईश्वर की ओर जाता है और उसमें प्रकाश आ जाता है। वह समझता है कि यह संसार मिथ्या और निःसार है। पर इन्द्रियाँ उसे खींच ले जाती हैं और वह फिर संसार के मीठे और कड़ुए फलों को खाने लगता है। उस पर फिर धौल पड़ती है। उसके हृदय के कपाट फिर खुल जाते हैं और वह ईश्वरी प्रकाश से परिपूर्ण हो जाता है। इस प्रकार धीरे धीरे करके वह ईश्वर के पास पहुँच जाता है। फिर उसे जान पड़ता है कि मेरे पुराने रूप का क्षय होता जा रहा है। जब वह अत्यंत समीप पहुँच जाता है, तब उसे जान पड़ता है कि मैं दूसरा नहीं था, स्वयं ईश्वर ही था। तब वह कहता है कि वह जिसे

मैं तुम्हें विश्व की आत्मा बतलाता था, जो अणु में, सूर्य्य में और चंद्र में है, वही हमारी आत्मा का आधार है, हमारी आत्मा की भी आत्मा है; नहीं, वह तू ही है। यही ज्ञानयोग का उपदेश है। यह मनुष्यों को बतलाता है कि वे ईश्वर ही हैं। इससे मनुष्यों को सत्ता की एकता का बोध होता है और इसका ज्ञान हो जाता है कि सब ईश्वर ही हैं जो इस पृथ्वी पर विग्रह-वान हैं। छोटे कीड़े से लेकर जो हमारे पैरों के नीचे पड़ता है, उच्च से उच्च सत्ता तक जिसे हम आदर और महत्व की दृष्टि से देखते हैं, सब ईश्वर ही के विग्रह मात्र हैं।

अंत को यह आवश्यक है कि ये योग व्यवहार में लाए जायँ; केवल सिद्धांत ही सिद्धांत से काम न चलेगा। पहले हमें उनका श्रवण करना चाहिए, फिर मनन। हमें फिर उन विचारों पर तर्क करके अपने मन में उनको अंकित करना चाहिए। फिर उनका निदध्यासन वा ध्यान द्वारा साक्षात् करना चाहिए। तब वे हमारे जीवन बन जायँगे। फिर धर्म विचार वा सिद्धांत की गठरी न रह जायगा, न वह युक्ति और तर्क का विषय रहेगा; वह हमारी आत्मा में प्रवेश कर जायगा। बुद्धि के आधार पर तो आज हम बहुत सी व्यर्थ बातों को स्वीकार कर लेंगे, पर कल ही हमारी बुद्धि बदल जायगी। पर सत्यधर्म कभी बद-लता ही नहीं। धर्म साक्षात्कार का नाम है; वह बकवास, वा विचार का विषय नहीं है, चाहे कितना ही सुंदर क्यों न हो। यह करने कराने की बात है, सुनने और मानने की बात नहीं

है। पर यह वह है जिसमें सारी आत्मा बदलकर वही हो जाती है जो उसका विश्वास है। यही धर्म है।

—:०:—

## (२३) प्रकट रहस्य।

( लेस ऐंजिलिस, केलिफोर्निया )

पदार्थों के तत्व को समझने के लिये हम जिधर दृष्टिपात करते हैं, उधर ही यदि हम अच्छी तरह छानबीन करते हैं तो विलक्षण दशा दिखलाई पड़ती है—स्पष्ट विपरीत बात जिसे हमारा तर्क भले ही स्वीकार न करे, पर बात है सच्ची। हम जिसे लेते हैं, वह हमें परिमित जान पड़ता है; पर ज्यों ही हम उसका विश्लेषण करते हैं, वह हमारी बुद्धि के बाहर चला जाता है। हमें उसके गुणों का पारावार ही नहीं मिलता; हमें उसकी संभावनाओं, उसकी शक्तियों और उसके संबंधों का अंत ही नहीं जान पड़ता। वह अपरिमित हो जाता है। एक साधारण फूल को लीजिए, वह कितना छोटा जान पड़ता है। पर ऐसा कौन है जो यह कह सके कि मुझे उस फल की सारी बातों का ज्ञान है? यह संभव नहीं है कि कोई एक फूल के संबंध में ज्ञान के पारावार को पहुँच सके। वही फूल जो पहले परिमित था, अब अपरिमित हो गया। बालू के एक कण को ले लीजिए। उसकी छानबीन कीजिए। हम उसे परिमित ही मानकर उसकी छानबीन में प्रवृत्त होते हैं; पर अंत को हमें जान पड़ता

है कि वह वैसा नहीं है, अपरिमित है। अब तक हम उसको परिमित ही समझते थे। फूल भी तो वैसे ही परिमित पदार्थ माना जाता था।

यही दशा हमारे सारे विचारों और अनुभवों की है, चाहे वे भौतिक हों या आध्यात्मिक। पहले जब हम जाँच आरंभ करते हैं, तब वे हमें छोटे और तुच्छ जान पड़ते हैं; पर कुछ ही दूर चलकर वे हाथ से फिसलकर अनंतता के गढ़े में कूद पड़ते हैं। और सबसे बृहत् और सबसे पहला पदार्थ जो देखा गया है, वह हम हैं। हम भी अपनी सत्ता के विषय में उसी धोखे में पड़े हैं। हम हैं; हम देखते हैं कि हम एक तुच्छ सत्व हैं। हम जनमते हैं और मरते हैं। हमारा विषय बहुत संकुचित है। हम यहाँ परिमित हैं और चारों ओर विश्व से घिरे हुए हैं। प्रकृति एक क्षण में हमारा ध्वंस कर सकती है। हमारा शरीर ऐसा है कि एक क्षण भर में छिन्न भिन्न हो सकता है। हम इसे जानते हैं। कर्मभूमि में हम कैसे क्षीणबल हैं। हमारी इच्छा का क्षण क्षण अवरोध होता रहता है। हम कितने कामों को करने की इच्छा करते हैं, पर उनमें इने गिने ही कर पाते हैं। हमारी इच्छा का कहीं अंत नहीं है। हम सब कुछ चाह सकते हैं; हमें सबकी इच्छा है; हम 'शुन' नक्षत्र तक जाने की इच्छा कर सकते हैं। पर हमारी इच्छाएँ कितनी कम पूरी होती हैं। हमारा शरीर स्थायी नहीं कि वे पूरी हो सकें; प्रकृति हमारी इच्छा की पूर्ति के प्रतिकूल है। हम निर्बल हैं। जो बात

फूल के लिये है, बालू के कण के संबंध में है, भौतिक जगत् और प्रत्येक विचार के संबंध में है, वही सौगुनी होकर हमारे संबंध में संघटित है। हम उसी सत्ता के चक्कर में पड़े हैं। जो कभी परिमित और कभी अपरिमित जान पड़ती है। हम समुद्र की लहर के तुल्य हैं। लहर समुद्र भी है और समुद्र नहीं भी है। लहर में कोई ऐसा अंश ही नहीं जिसे हम समुद्र न कह सकें। 'समुद्र' शब्द के वाच्य में लहर और समुद्र के अन्य भाग सब आ जाते हैं। पर फिर भी वह समुद्र से अलग ही है। इसी प्रकार इस अनंत सागर में हम लहर के समान हैं। पर जब हम अपने को ग्रहण करना चाहते हैं, तो नहीं कर सकते; हम अनंत हो जाते हैं।

हमारा जीवन स्वप्न के समान है। स्वप्न-दशा में स्वप्न सत्य रहता है; पर ज्यों ही आप उसमें एक को भी ग्रहण करना चाहते हैं, वह भाग जाता है। क्यों? इसलिये नहीं कि स्वप्न मिथ्या है, इसलिये कि उसका समझना हमारे तर्क और बुद्धि के अधिकार के बाहर है। इस जीवन की सारी बातें इतनी बड़ी हैं कि बुद्धि उनके सामने अति तुच्छ है। वे बुद्धि में आ नहीं सकतीं। वे उस जाल पर हँसती हैं जिसमें बुद्धि उन्हें फँसाना चाहती है। और इससे सहस्रों गुनी कठिन मनुष्य की आत्मा की बात है। हम स्वयं इस विश्व के सबसे बड़े रहस्य हैं।

यह कितने आश्चर्य की बात है। मनुष्य की आँख को

देखिए। कैसी सुगमता से यह फूट सकती है। पर बड़े से बड़े सूर्य्य की सत्ता इसी लिये है कि आप उसे अपनी आँखों से देखते हैं। संसार की सत्ता क्यों है? इसी लिये कि आपकी आँखें उसकी सत्ता को बताती हैं। इस रहस्य पर विचार कीजिए। इसी बेचारी छोटी सी आँख को तीव्र प्रकाश वा सूई फोड़ सकती है। पर फिर भी नाश का प्रचंड यंत्र, बड़े बड़े प्रचंड विप्लव, अद्भुत सत्ताएँ, करोड़ों सूर्य्य, चंद्र, ग्रह, नक्षत्रादि को अपनी सत्ता प्रमाणित करने के लिये केवल इन्हीं दो छोटी छोटी वस्तुओं की साक्षी की अपेक्षा रहती है। जब वे कहती हैं कि संसार है, तब हम यह मानते हैं कि हाँ है। यही दशा हमारी और इंद्रियों की भी है।

यह क्या? निर्बलता कहाँ है? बलवान् कौन है? कौन बड़ा, कौन छोटा है? इस परस्पर सापेक्ष जगत् में कौन ऊँचा है, कौन नीचा? यहाँ तो समष्टि को भी अपनी सत्ता के लिये एक कारण की अपेक्षा है। कौन बड़ा कौन छोटा, यह विचार भाग गया। क्योंकि न तो कोई छोटा है न कोई बड़ा। सब के भीतर वही अनंत समुद्र लहरें मार रहा है। उन सब की सत्यता वही अनंत सत्ता है। जो कुछ ऊपर देख पड़ता है, वह केवल अनंत ही अनंत है। इसी प्रकार जो कुछ आप देखते और समझते हैं, वह भी अनंत है। बालू का एक एक कण, एक एक विचार, एक एक आत्मा, जो कुछ है, सब अनंत ही है। यही हमारी सत्ता है।

यह सब कुछ ठीक हो सकता है; पर यह ज्ञान अनंत का ज्ञान, अब भी अज्ञान रूप से बना है। यह बात नहीं है कि हम उसे भूल गए हैं, अपनी अनंत प्रकृति हमें स्मरण नहीं। भला कोई उसे कभी भूल भी सकता है? भला कौन इसे सोचेगा कि मेरा नाश हो सकता है? कौन यह सोचेगा कि मैं मर जाऊँ? कोई नहीं। हमारा अनंत से जो संबंध है, वह गुप्त रूप से जाग्रत है। एक प्रकार से हमें अपने सच्चे स्वरूप का बोध नहीं रहा है, इसी कारण हम दुःखी हो रहे हैं।

नित्य के व्यवहार में हमें छोटी छोटी बातों से दुःख होता है। हम तुच्छ पदार्थों के दास बने रहते हैं। दुःख हमें इसलिये होता है कि हम अपने को परिमित और छोटा समझते हैं। और फिर भी यह समझना कितना कठिन है कि हम अनंत हैं। इन सब दुःखों और कठिनाइयों में साधारण बातों से हमारी शांति में भंग पड़ जाता है। हमारे लिये अपने को अनंत मानने में बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। और सच्ची बात तो यह है कि चाहे ज्ञात रूप में हो वा अज्ञात रूप में, हम सब उसी अनंत की जिज्ञासा में लगे हैं; हम सदा मुक्ति प्राप्त करने के उद्योग में निरत हैं।

संसार में मनुष्यों की कभी कोई ऐसी जाति ही नहीं थी जिसका कोई धर्म न रहा हो और जो किसी देवता की पूजा न करती रही हो। इसकी कोई बात नहीं कि वे देवता कहीं थे वा नहीं। पर यह तो सोचिए कि इस आध्यात्मिक आलोक

का रहस्य क्या है ? सारा संसार ईश्वर की खोज के पीछे क्यों सिर खपा रहा है ? ऐसा क्यों है ? संसार में चारों ओर बंधन ही बंधन देख पड़ता है; चारों ओर प्रकृति अपना रूप पसारे खड़ी है; हम नियम की चक्की में पिसे जा रहे हैं; हमें करवट बदलने की छुट्टी नहीं मिलती; जिधर हम मुँह करते हैं, जहाँ भागकर जाते हैं, नियम दंड लिए हमारे पीछे लगा रहता है। कहीं छुटकारा नहीं। यह सब है तो सही, पर जीवात्मा अपनी मुक्त-स्वभावता को भूलता नहीं और सदा उसकी टोह में लगा रहता है। मोक्ष के लिये खोज ही धर्म की खोज है, चाहे कोई इसे समझे वा न समझे। चाहे वे उसकी व्यवस्था को ठीक बाँधें वा बेठीक बाँधें, पर यह भाव उनमें रहता है अवश्य। यहाँ तक कि असभ्य से असभ्य महामूर्ख मनुष्य ही क्यों न हो, वह भी ऐसी युक्ति की खोज में निरत रहता है जिससे वह प्रकृति के नियम से मुक्त हो जाय, उस पर उसका अधिकार रहे। वह भूत-प्रेत, देवी-देवता के पीछे इसी लिये पड़ा रहता है कि वे प्रकृति को अपने वश में रख सकते हैं, उनके लिये प्रकृति अति बलशालिनी नहीं है; उनके लिये कोई नियम नहीं है। "हाँ, ऐसा व्यक्ति जो नियम को तोड़ सके" ! मनुष्य के अंतःकरण से यही शब्द आता है। हम सदा ऐसे मनुष्य की खोज में लगे रहते हैं जो नियम को तोड़ सके। इंजिन रेल की सड़क पर दौड़ता है और एक छोटा कीड़ा रेंगकर निकल जाना चाहता है। हम कहेंगे कि इंजिन जड़ पदार्थ और कीड़ा चेतन

है। इसका कारण यही है कि वह नियम को तोड़ने का प्रयास करता है। इंजिन इतनी शक्ति रहते हुए भी नियम का उल्लंघन नहीं कर सकता। यह उसी ओर जाता है जिधर मनुष्य उसे ले जाता है, वह अन्यथा कर नहीं सकता। पर कीड़ा छोटा और तुच्छ भले ही क्यों न हो, अपनी स्वतंत्रता का दम भरता है। उसमें यही चिह्न है जिससे वह आगे को देवता हो जायगा।

सर्वत्र हमें मोक्ष को प्राप्त करने का यही प्रयत्न दिखाई पड़ता है; अर्थात् आत्मा के मोक्ष प्राप्त करने का। यह सब धर्मों में ईश्वर वा देवता के रूप में प्रतिबिंबित हो रहा है। पर यह बाहरी है उन लोगों के लिये जो देवताओं को अलग समझते हैं। मनुष्य ने यह निश्चय किया कि मैं कुछ हूँ नहीं। उसे भय था कि मुझे मोक्ष नहीं मिल सकता। यही कारण है कि उसने संसार वा प्रकृति के परे किसी और को ढूँढ़ने का प्रयत्न किया, जो उसके बंधन से मुक्त हो। फिर उसके विचार में यह बात आई कि ऐसे अनेक मुक्त सत्व हैं और क्रमशः उसने सबको मिलाकर एक सत्व बना लिया जो "देव देव" कहलाया। पर उससे भी उसका संतोष न हुआ। अब वह सत्य के और पास पहुँच गया था, कुछ अधिक समीप। फिर धीरे धीरे उसे यह जान पड़ा कि उसका किसी न किसी प्रकार उस देव देव से संबंध अवश्य था; उसने यह समझा था कि यद्यपि वह परिमित, नीच, बद्ध और निर्बल था, फिर भी उसका देव देव के

साथ कुछ संबंध अवश्य था। नए नए अवभास हुए, नए नए विचार आए और ज्ञान आगे बढ़ा। वह धीरे धीरे उस ईश्वर के पास पहुँचने लगा; और अंत को उसे यह जान पड़ा कि ईश्वर और सब देवता, यही सारी आध्यात्मिक बातें जो एक सर्वशक्तिमान् की खोज में देखने में आई हैं, केवल उसीके संबंध के भावों के आभास मात्र थे। और फिर अंत को इसका निश्चय हो गया कि यह बात ठीक नहीं है कि ईश्वर ने मनुष्य को अपने रूप के अनुसार बनाया। अपितु सच्ची बात यह है कि मनुष्य ने ईश्वर को अपने रूप के अनुसार बना लिया है। इससे उसमें दैवी स्वतंत्रता के भाव का संचार हुआ। ईश्वर उससे सदा समीप से भी समीप था। उसी को हम इधर-उधर ढूँढ़ रहे थे। पर अंत को हमें यह जान पड़ा कि वही हमारी आत्मा की आत्मा है। आपको वह कहानी याद होगी कि एक मनुष्य ने अपने हृदय के धड़कने को यह समझा था कि कोई उसके द्वार पर हाथ मार रहा है। वह दौड़ा हुआ द्वार पर आया और द्वार खोला तो देखा, वहाँ बाहर कोई नहीं था और वह आकर लौट गया। उसे फिर खटखटाहट सुनाई पड़ी। उसे द्वार खोलने पर जान पड़ा, वहाँ कोई नहीं है और अंत को उसे जो जान पड़ा कि उसके हृदय की धड़कन थी जिसे उसने द्वार की खटखटाहट समझा था। इसी प्रकार बड़ी खोज के बाद उसे इसका पता चला कि वह अनंत स्वतंत्रता जिसे वह अपनी कल्पना से सदा बाहर समझता

आया था, भीतर ही है । वह उसकी आत्मा की नित्य आत्मा है; और वह वही सत्ता है ।

इस प्रकार अंत को उसे सत्ता के इस अद्भुत द्वैत का ज्ञान हुआ, अर्थात् यह कि अनंत और सांत एक ही में हैं; वह अनंत सत्व भी वही है जो सांत आत्मा है। वही अनंत जब बुद्धि के जाल में फँस जाता है, तब सांत दिखाई पड़ता है; पर वास्तव में वह अनंत रहता है ।

अतः यही सत्य ज्ञान है कि हमारी आत्मा की आत्मा, वह सत्ता जो हमारे भीतर है, वही है जो निर्विकार, नित्य, आनंदघन और सदा मुक्त है। यही हमारा दृढ़ आधार है। यही सारी मृत्युओं का अंत है। यही सारी अमरता का मार्ग है । यही सारे दुःखों का अंत है। वह जो एक को बहुतों में देखता है, वह जो विकार में निर्विकार को देखता है, वह जो उसे आत्मा को भी आत्मा के रूप में देखता है, उसी को शाश्वत शांति है, दूसरे को नहीं ।

सारे दुःखों और पतनों के भीतर से आत्मा प्रकाश की किरण फेंकता है और मनुष्य जागकर यह देखता है कि जो सचमुच मेरा है, वह कभी जा नहीं सकता । नहीं, जो सचमुच हमारा है, हम उसे कभी त्याग नहीं सकते । भला अपनी सत्ता को कौन खो देगा ? कौन अपने स्वरूप को त्याग सकता है ? यदि मैं भला हूँ तो पहले मेरी सत्ता है, फिर वही भलाई के रंग में रँगी गई है। यदि मैं बुरा हूँ, तो सत्ता पहले है, और

उसी पर बुराई का रंग चढ़ा हुआ है । वही सत्ता आदि में, मध्य में और अंत में सदा बनी रहती है । उसका कभी नाश नहीं है, वह सदा रहती है ।

अतः सबके लिये आशा है । मुझे न भय है न शंका । मृत्यु मेरे पास नहीं आ सकती । मेरे न कभी पिता थे न माता: मेरा कभी जन्म ही नहीं हुआ । मेरे शत्रु कहाँ हैं ? मैं ही तो सब हूँ । मैं सत्, चित् और आनंद हूँ । सोऽहम्, सोऽहम् । क्रोध, काम और ईर्ष्या, दुष्ट और अन्य सब विचार मेरे पास कभी आ नहीं सकते; क्योंकि सत्, चित् और आनंद मैं ही हूँ । यही मैं हूँ ! यही मैं हूँ !

यही सारे रोगों का औषध है । यही अमृत है जिससे मृत्यु का नाश होता है । मैं यहाँ संसार में हूँ; मेरी प्रकृति मुझ से विरुद्ध हो जाती है । पर मुझे जपने दो सोऽहम् सोऽहम् । मुझे कोई भय नहीं, कोई शंका नहीं, मृत्यु नहीं, लिंग नहीं, जाति नहीं, वर्ण नहीं । मेरा धर्म क्या होगा ? भला कौन ऐसा धर्म है जिसे मैं ग्रहण करूँ ? मैं किस धर्म में आ सकता हूँ ? मैं तो सभी धर्मों में हूँ ।

आपका शरीर आपके अधिकार से बाहर भले ही जाय, मन आपके वश में भले ही न रहे, घोर अंधकार की दशा में, अत्यंत यातना क्यों न हो, नितांत निराशा में इसका जप एक दो तीन बार नित्य किया करो । प्रकाश धीरे धीरे आता है, पर आवेगा अवश्य ।

मैं कई बार मृत्यु के मुँह में पड़ चुका हूँ, भूखों मरा हूँ, मेरे पैरों में घाव हो गए हैं और थककर पड़ रहा हूँ। मुझे सप्ताहों भोजन नहीं मिला है, और प्रायः मैं आगे नहीं जा सका। मैं पेड़ के नीचे पड़ा रहा हूँ और मुझे जीवन दूभर हो गया है। मुझ से बोला तक नहीं गया है; मेरी बुद्धि कम काम करने लगी है। पर अंत को मेरे मन में यही आया है कि "मुझे न कोई भय है और न मृत्यु है; न मुझे भूख है, न प्यास है; मैं वह हूँ। सारी प्रकृति भी मुझे नष्ट नहीं कर सकती। वह मेरी दासी है। देव देव महेश्वर अपनी शक्ति को काम में ला। अपने खोए हुए राज्य को ले ले। उठ और चल, ठहर मत।" और मैं उठा, मुझमें फिर शक्ति का संचार हो गया और यह देखिए, मैं जीता जागता आज यहाँ खड़ा हूँ। इसी प्रकार जब जब अंधकार आवे, अपनी शक्ति का संचार करो; सारी बाधाएँ भाग जायँगी। अंत को यह भी एक स्वप्न है। यद्यपि पर्वत के बराबर भयानक विपत्ति क्यों न फट पड़े और चारों ओर अंधकार ही अंधकार क्यों न छा जाय, पर वह सब माया ही है। डरो मत, और वह निकल गई। उसे दबा दो, वह नष्ट हो जायगी। कुचल दो, वह मर जायगी। डरो मत। इसकी चिंता न करो कि कितनी बार तुम्हें विफलता होगी। इस पर ध्यान न दो। काल अनंत है। आगे बढ़ो; बार बार प्रयत्न करते जाओ। तुम्हें अमरत्व प्राप्त होगा। आप सबके सामने जो संसार में उत्पन्न हुए हैं, भले ही हाथ जोड़ते फिरें, पर आपकी सहायता कौन

करने आवेगा ? उस मौत की क्या चिंता जिससे कोई बचता ही नहीं ? अपनी सहायता आप करो। मित्र, आपकी सहायता दूसरा कोई न करेगा। आप ही अपने बड़े शत्रु हैं, आप ही अपने बड़े मित्र हैं। फिर अपनी आत्मा को पकड़ो। अपने पैरों पर खड़े हो। डरो मत। सारे दुःखों और सारी निर्बलताओं में अपनी आत्मा को निकालो, वह कितनी ही अस्पष्ट और अव्यक्त क्यों न हो। आप में अंत को साहस आ ही जायगा और आप सिंहवत् गरज उठेंगे—'सोऽहम्' 'सोऽहम्।' न मैं स्त्री हूँ, न पुरुष हूँ, न देव हूँ, न दैत्य हूँ, न मैं पशु हूँ न वृक्ष, न बनस्पति हूँ; न मैं धनी हूँ, न निर्धन हूँ, न विद्वान् हूँ, न मूर्ख हूँ। मेरी अपेक्षा यह सब कुछ नहीं है क्योंकि मैं वह हूँ, मैं वह हूँ। सूर्य्य, चंद्र और ताराओं को देखो, मैं वह ज्योति हूँ जो उनमें चमक रही है। अग्नि में तेज रूप मैं ही हूँ, विश्व में शक्ति मैं ही हूँ; क्योंकि मैं वह हूँ, मैं वह हूँ।

जो कोई यह समझता है कि मैं छोटा हूँ, वह भूलता है; क्योंकि जो कुछ है, सब आत्मा ही है। सूर्य्य की सत्ता इसलिये है कि मैं यह स्वीकार करता हूँ कि वह है, क्योंकि मैं ही सत्, चित् और आनंद हूँ—नित्यानंद, नित्य शुद्ध और सदा शुभदर्शन। देखो, सूर्य्य हमारे देखने का कारण है। पर यदि किसी की दृष्टि में दोष हो तो सूर्य्य का कोई दोष नहीं है। वैसे ही मैं भी हूँ। मैं सब अंगों से, सबसे काम कर रहा हूँ; पर कर्म के शुभाशुभ का प्रभाव मुझ पर नहीं पड़ता। मेरे लिये कोई विधि

नहीं है; कोई कर्म नहीं है। कर्म का अधिष्ठाता मैं हूँ। मैं सदा से हूँ और सदा रहूँगा।

मुझे कभी भौतिक वा सांसारिक पदार्थों में सच्चा सुख नहीं मिला। स्त्री, पुरुष, पुत्र, कलत्रादि में मुझे राग नहीं है, क्योंकि मैं नील आकाश की भाँति अनंत हूँ। नाना वर्ण के बादल आते हैं और क्षण भर में होकर निकल जाते हैं। वे हटे कि फिर वही निर्विकार नील आकाश है। सुख-दुःख, शुभ-अशुभ, मेरे ऊपर क्षण भर के लिये भले ही आकर आवरण डालें, पर मैं फिर भी अचल हूँ। वे चले जाते हैं क्योंकि वे विकारवान् हैं। मैं प्रकाशमान् हूँ क्योंकि मैं निर्विकार हूँ। दुःख आते हैं; मैं जानता हूँ कि वे परिमित हैं, अतः वे जाते भी रहते हैं। यदि बुराई आती है तो मैं जानता हूँ कि वह परिमित है, चली जायगी। मैं अकेला अनंत हूँ, निर्लेप हूँ; क्योंकि मैं अनंत, शाश्वत और निर्विकार आत्मा हूँ। हमारे कवियों का यही कथन है।

मैं वह प्याला हूँ जिसके पीने से सब अमर और सब निर्विकार हो जायँगे। डरो मत। इसे मत मानो कि हम परिमित हैं, हम बुरे हैं, हम मर जायँगे। यह सत्य नहीं है।

'श्रोतव्योमन्तव्यो निदध्यासितव्यः'। हाथ कर्म करे तो मन में सोऽहम् सोऽहम् जपते रहो। इसी को सोचो, इसी को स्वप्न में देखो, जब तक कि यह तुम्हारी अस्थि और मांस में प्रवेश न कर जाय, जब तक कि लघुता, दुर्बलता, दुःख और बुराई का

स्वप्न नितांत जाता न रहे और यहाँ तक कि सत्य का रूप क्षण भर के लिये भी छिपा न रह जाय।

---

## (२४) सुख का मार्ग।

आज मैं आपको वेदों की एक कथा सुनाता हूँ। वेद हिंदुओं के धर्म-ग्रंथ हैं और उनमें प्राचीन साहित्य का संग्रह है। वेदों के अंतिम भाग का नाम वेदांत है। वेदांत कहते हैं वेद के अंत को। इसमें वेदों के भीतर आए हुए विचार हैं और विशेष कर उसमें दर्शन शास्त्र की बातें हैं जिनके साथ उन विचारों का संबंध है। वह बहुत प्राचीन संस्कृत में है और आप इसे स्मरण रखिए कि वह सहस्रों वर्ष का लिखा हुआ है। एक मनुष्य ने कोई यज्ञ करने की इच्छा की। अनेक प्रकार के यज्ञ होते हैं। यज्ञों में वेदियाँ बनती हैं, उनमें मंत्रपूर्वक आहुतियाँ दी जाती हैं और सामगान इत्यादि होते हैं। फिर यज्ञ की समाप्ति पर ब्राह्मणों को दक्षिणा और दीनों को दान दिया जाता है। भिन्न भिन्न यज्ञों में भिन्न भिन्न प्रकार की दक्षिणा दी जाती है। एक यज्ञ होता था जिसमें सर्वस्व दक्षिणा देनी पड़ती थी। वह मनुष्य धनी तो था, पर था कंजूस और सबसे कठिन यज्ञ करके यश लेना चाहता था। जब उसने वह यज्ञ किया, तब सब कुछ देने की जगह उसने लँगड़ी-लूली, कानी-खोड़ी बूढ़ी गौएँ जिनसे दूध की कभी आशा न थी, दक्षिणा में दीं। उसके एक लड़का था।

वह बड़ा समझदार था। उसने देखा कि मेरे पिता ने यथोचित दक्षिणा नहीं दी है और इसका फल उसके लिये अच्छा न होगा। उसने चाहा कि वह अपने आपको दक्षिणा में दिलवा दे और वह न्यूनता पूरी कर दे। वह अपने पिता के पास गया और बोला कि आप मुझे किसको देते हैं। पिता ने अपने पुत्र के पूछने पर कुछ उत्तर नहीं दिया और लड़के ने दूसरी बार और फिर तीसरी बार उससे वही प्रश्न किया। फिर तो पिता झुँझुला उठा और बोला—"मैं तुझे यम को देता हूँ,—मैं तुझे मृत्यु को देता हूँ।" और लड़का सीधा यमलोक को चला गया। यम उस समय अपने स्थान पर नहीं थे। वह वहीं तीन दिन तक उनकी प्रतीक्षा में पड़ा रहा। तीन दिन बाद यम आए और उससे कहने लगे कि 'हे ब्राह्मण! आप मेरे अतिथि हैं। आप तीन दिन यहाँ निराहार रहे हैं। आपको नमस्कार है। इसके बदले मैं आपको तीन वर देता हूँ।" लड़के ने पहला वर तो यह माँगा कि मेरे बाप का क्रोध जो मुझ पर है, जाता रहे; और दूसरे वर में उसने कुछ यज्ञ की बात पूछी। फिर उसने तीसरा वर माँगते हुए कहा कि—'जब मनुष्य मर जाता है, तब यह शंका उत्पन्न होती है कि वह क्या हुआ? कुछ लोग कहते हैं कि वह रह नहीं जाता, कुछ लोग कहते हैं कि नहीं, वह बना रहता है। मैं तीसरे वर में यही माँगता हूँ। कृपापूर्वक बतलाइए कि बात क्या है?" मृत्यु ने कहा कि—"पूर्व काल में देवताओं ने इस भेद को जानने की बड़ी चेष्टा की है। यह रहस्य इतना

गूढ़ है कि इसका जानना बड़ा ही कठिन है। दूसरा वर माँगिए; यह वर मत माँगिए। मैं आपको सौ वर्ष की आयु दे सकता हूँ; पशु माँगिए, घोड़े माँगिए, बड़ा राज्य माँग लीजिए, सब माँगिए, मैं दूँगा। पर यह बात मत पूछिए।" लड़के ने कहा—"नहीं महाराज! मनुष्य को धन से तृप्ति कहाँ? यदि मुझे धन की कामना होती, तो वह तो आपके दर्शन मात्र से पूरी हो जाती। जब तक आप चाहेंगे, तभी तक मैं जिऊँगा। भला संसार का ऐसा कौन प्राणी होगा जो अमर देवताओं की संगति पाकर गीत वाद्यादि के सुखों को सुख समझता हुआ अधिक जीवन की इच्छा करे। अतः आप कृपाकर उस बड़े प्रश्न का उत्तर दीजिए। मुझे किसी और पदार्थ की आवश्यकता नहीं है। नचिकेता केवल यही मृत्यु ही का प्रश्न पूछना चाहता है।" यम प्रसन्न हुए। हम पूर्व के दो तीन व्याख्यानों में बतला चुके हैं कि ज्ञान से अंतःकरण की शुद्धि हो जाती है। आप यहाँ देखिए कि पहली बात यह है कि मनुष्य को सिवाय सत्य के किसी और पदार्थ की इच्छा नहीं होती और वह सत्य की इच्छा सत्य के लिये होती है। देखिए, उस लड़के ने उन पदार्थों को जो यम उसे दे रहे थे,—जैसे अधिकार, संपत्ति, धन और आयु—कैसे त्याग दिया और वह केवल इसी एक बात के लिये अर्थात् ज्ञान के लिये, सत्य के लिये सब कुछ छोड़ने पर उद्यत था। केवल इसी प्रकार सत्य की प्राप्ति हो सकती है। यमराज प्रसन्न होकर कहने लगे कि दो मार्ग हैं, एक प्रेय और

दूसरा श्रेय। इन्हीं दोनों को मनुष्य ग्रहण करते हैं। इनमें जो ज्ञानी है, वह श्रेय के मार्ग को ग्रहण करता है और जो मूर्ख है, वह प्रेय को ग्रहण करता है। नचिकेता, मैं तुम्हारी प्रशंसा करता हूँ कि तुमने लोभ नहीं किया। मैंने तुम्हें प्रेय मार्ग ग्रहण करने के लिये अनेक लालच दिखलाए, पर तुमने उन सबको त्याग दिया। तुम यह जानते हो कि ज्ञान सुख-भोग से कहीं श्रेष्ठ है।"

"तुमको यह समझना चाहिए कि जो मनुष्य अज्ञान और विषयभोग में पड़ा रहता है, उसमें और पशु में भेद नहीं है। फिर भी कितने ऐसे हैं जो अज्ञान में डूबे रहते हैं और घमंड में चूर हैं, अपने को बड़ा ज्ञानी मानते हैं। वे जैसे अंधा अंधे को टेकाता है, अनेक टेढ़े मार्गों में होकर फिरा करते हैं। हे नचिकेता, जो अज्ञानी बालकों के समान मिट्टी के खिलौने में फँसे रहते हैं, उनके हृदय में सत्य कभी प्रकाशित नहीं होता। वे न तो इस लोक को न परलोक को मानते हैं। वे अपने और पराए दोनों को नहीं मानते और बार बार मेरे वश में पड़ा करते हैं। कितनों ने सुना ही नहीं है, कितनों ने सुना तो है पर समझा नहीं है। कारण यह है कि इसका कहनेवाला भी अद्भुत ही चाहिए और समझनेवाला भी अद्भुत ही होना चाहिए। यदि वक्ता कुशल नहीं है तो इसे कोई सैंकड़ों बार कहे और सैंकड़ों बार समझे, पर फिर भी सत्य का प्रकाश आत्मा में नहीं होता। हे नचिकेता, व्यर्थ के तर्क से अपने मनको

चलायमान् मत करो। यह सत्य उसी अंतःकरण में प्रकाशमान होता है जो अत्यंत शुद्ध है। जिसे बिना कठिनाई के देख नहीं सकते, जो गुप्त है, जो अंतःकरण की गुहा में प्रविष्ट है, जिसे आत्मा की आँख से देखने पर सुख दुःख जाते रहते हैं, उस पुरातन पुरुष को इन बाह्य आँखों से नहीं देख सकते। जो इस सत्व को जानता है, उसकी सारी कामनाएँ जाती रहती हैं, दिव्य ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और वह शान्ति पाता है। नचिकेता, यही शान्ति का मार्ग है। वही धर्म से परे, अधर्म से परे, कर्तव्य और अकर्तव्य से परे, भूत और भविष्य से परे है, वही इसे जानता है जो जानता है। जिसे सब वेद ढूँढ़ते हैं, जिसके लिये सब तपस्वी तप करते हैं, मैं उसका नाम तुम्हें बतलाता हूँ। वह ओ३म् है। यही ओ३म् ब्रह्म है, यही अमर है। जो इसके तत्व को जानता है, वह जो इच्छा करता है, वही होता है। हे नचिकेता, जिसके विषय में तुम पूछते हो, वह न कभी उत्पन्न हुआ है, न मरता है। वह अज, नित्य, शाश्वत और पुराण है। शरीर के नष्ट होने से वह नष्ट नहीं होता। जो यह समझता है कि मैं मारता हूँ, जो यह समझता है कि मैं मारा जाता हूँ, दोनों नहीं जानते। न वह मारता है, न वह मारा जाता है। वह अणु से भी अति अणु और महा से भी महा है। सब का ईश्वर सबके हृदय की गुहा में निहित है। जो धूतपाप है, वह उसे उसी भगवान् की दया से उसकी सारी महिमाओं में देखता है (हम देखते हैं कि ईश्वर के साक्षात्कार में प्रधान

कारण ईश्वर की कृपा है)। बैठा हुआ वह दूर जाता है, लेटा हुआ वह सर्वत्र पहुँचता है, सिवाय शुद्ध और सूक्ष्म विचार-वाले पुरुष के कौन उस ब्रह्म के जानने के योग्य है जिसमें सारे विरुद्ध गुण एकत्र हैं? उसके शरीर नहीं है, पर वह शरीर में रहता है; अस्पृष्ट है, पर सबसे स्पृष्ट है, सर्वव्यापी है। ऐसे आत्मा को इस प्रकार जानकर ऋषियों के दुःख छूट जाते हैं। आत्मा वेदों के पढ़ने से नहीं जाना जाता, न प्रज्ञा से न विद्या से जाना जाता है। आत्मा जिसे चाहता है, वही उसे जान पाता है; उसके सामने वह अपनी महिमा प्रकट करता है। जो निरंतर पाप करता रहता है, जिसकी आत्मा शांत नहीं है, जो सदा चंचल और अशांत है, वह उस आत्मा को नहीं जान सकता, वह उसे नहीं साक्षात् कर सकता जो अंतः-करण की गुहा में प्रविष्ट है। हे नचिकेता, यह शरीर रथ है, इंद्रियाँ घोड़े हैं, मन लगाम है, बुद्धि सारथी और आत्मा सवार है। जब आत्मा सवार सारथी बुद्धि के साथ और बुद्धि मन-रूपी लगाम के साथ और मन इंद्रिय-रूपी घोड़े के साथ संयुक्त रहता है, तब उसे भोक्ता कहते हैं। तभी वह देखता है, कर्म करता है। जिसका मन उसके वश में नहीं है और जिसे विवेक नहीं है, उसकी इंद्रियाँ वश में वैसे ही नहीं हैं जैसे उद्धत घोड़े सारथी के वश में नहीं रहते। पर जो विवेकवान् होता है, जिसका मन उसके वश में होता है, उसकी इंद्रियाँ वैसे ही वश में रहती हैं जैसे सुशिक्षित घोड़े सारथी के वश में रहते

हैं। जिसे विवेक है, जिसका मन सदा सत्य के समझने में लगा रहता है, जो शुद्ध है, वही सत्य को पाता है, जिसे पाने पर फिर पुनर्जन्म नहीं होता। हे नचिकेता, यह बहुत कठिन है। राह लंबी है, पहुँचना कठिन है। केवल वही लोग जिनको सूक्ष्म दृष्टि है, इसे देख सकते हैं; वे ही इसे समझ सकते हैं। पर डरो मत। जागो और काम करो। जब तक ठिकाने न पहुँचो, ठहरो मत। क्योंकि ऋषियों ने कहा है कि यह काम बड़ा कठिन है, छुरे की धार पर चलना है। जो इंद्रियों से परे, स्पर्श से परे, रूप-रहित, स्वाद से परे, निर्विकार, नित्य, बुद्धि से परे, नाशरहित है, उसीके जानने से हम मृत्यु के मुख से बच सकते हैं।"

यहाँ तक हमें जान पड़ता है कि यम ने वह उद्दिष्ट स्थान बतलाया है जहाँ सबको पहुँचना है। पहली बात जो हमारी समझ में आती है, यह है कि केवल सत् के जानने से हम जन्म, मरण, क्लेश और नाना प्रकार के दुःखों से जो संसार में हमें होते हैं, बच सकते हैं। पर सत् है क्या? जिसमें कभी विकार न हो—मनुष्य की आत्मा, विश्व में व्यापक आत्मा। फिर यह भी कहा गया है कि उसका जानना कठिन है। जानने का अर्थ केवल समझ में आना नहीं है; जानना कहते हैं साक्षात् करने को। यह बार बार कहा गया है कि यह निर्वाण देखने के लिये है, जानने के लिये है। हम उसे आँखों से नहीं देख सकते, इसके लिये सूक्ष्म दृष्टि होने की आवश्यकता है। यह

स्थूल इंद्रियाँ हैं जिनसे हमें दीवार और पुस्तकादि का बोध होता है। पर सत्य के जानने के लिये अत्यंत सूक्ष्म इंद्रिय की आवश्यकता है। यही सारे ज्ञान का रहस्य है। फिर यमराज कहते हैं कि इसके लिये अत्यंत शुद्धता की आवश्यकता है। यही इंद्रियों के सूक्ष्म होने का ढंग है। फिर हमें और रीतियाँ भी बतलाई गई हैं। वह नित्य ब्रह्म इंद्रियों से परे है। इंद्रियों से तो बाह्य विषय का बोध होता है; पर नित्यात्मा का बोध आभ्यंतर में होता है। आप देखते हैं कि किन बातों की आवश्यकता है, अर्थात् आंतरिक दृष्टि करके आत्मा को देखने की इच्छा की। जो कुछ सुंदर पदार्थ संसार में देख पड़ते हैं, सब अच्छे हैं। पर ईश्वर के देखने का यह ढंग नहीं है। हमें यह सीखना चाहिए कि कैसे अंतर्दृष्टि होती है। आँखों से बाहर देखने की इच्छा कम करनी चाहिए। जब आप नगर की सड़क पर चलते हैं, तब गाड़ियों की खटखटाहट से साथ चलनेवालों की बात सुनना कठिन हो जाता है। न सुन पड़ने का कारण यह है कि अधिक शब्द होता है। मन बाहर जा रहा है, आप पास के मनुष्य की बातें नहीं सुन सकते हैं। इसी प्रकार इस संसार में इतना अधिक घोर शब्द हो रहा है कि मन बाहर भागता रहता है। हम आत्मा को देखें तो कैसे देखें? बाहर का जाना बंद करना चाहिए। दृष्टि को भीतर लौटाने का यही अर्थ है। तभी भीतर ईश्वर का प्रकाश देख पड़ेगा।

यह आत्मा है क्या? हम देख चुके हैं कि वह बुद्धि से परे

है। उसी उपनिषद् से हमें यह भी जान पड़ता है कि वह नित्य और सर्वव्यापी है; आप और मैं और सब लोग सर्वव्यापी हैं; और आत्मा निर्विकार है। अब यह सर्वव्यापी कोई एक ही होगा। दो पदार्थ नित्य हो नहीं सकते और फलतः यह आवश्यक है कि संसार में केवल एक ही आत्मा हो। आप, मैं और सारा विश्व सब एक ही हैं और अनेक देख पड़ते हैं। जिस प्रकार एक ही अग्नि विश्व में प्रविष्ट होकर भिन्न भिन्न रूप में दिखाई पड़ती है, वैसे ही सारे विश्व का एक आत्मा है जो भिन्न भिन्न रूपों में व्यक्त हो रही है। अब प्रश्न यह है कि यदि यह आत्मा पूर्ण और शुद्ध है और विश्व में एक ही है, तो फिर जब वह अशुद्ध के शरीर में, पापी के शरीर में, पुण्यात्मा के वा और के शरीर में जाती है तो उसे क्या हो जाता है। वह फिर पूर्ण कैसे रही? सबकी आँखों की दृष्टि का कारण सूर्य्य है। पर उस सूर्य्य में किसी की आँख के दोष से दोष नहीं आता। यदि किसी की आँख में पीलू रोग है, तो उसे सब पीला ही दिखाई पड़ता है। उसकी दृष्टि का कारण सूर्य्य तो है, पर उसे सब पीला दिखाई पड़ता है। इससे सूर्य्य से कोई संपर्क नहीं है। ऐसे ही यह एक आत्मा यद्यपि सबका आत्मा है, फिर भी उससे बाहरी शुद्धि वा अशुद्धि का कोई संपर्क नहीं होता। इस संसार में जहाँ सब पदार्थ क्षणिक वा अस्थायी हैं, जो उस निर्विकार को जानता है, इस जड़ जगत् में जो उस चेतन को जानता है, इस अनेकता में जो उस एक को जानता है और

उसे अपनी आत्मा में देखता है, उसी के लिये शाश्वत सुख है, दूसरे के लिये नहीं। वहाँ न सूर्य्य का प्रकाश पहुँचता है, न चंद्र का प्रकाश, न तारों के प्रकाश पहुँचते हैं, न बिजली की चमक पहुँच सकती है; फिर इस आग की तो बात ही क्या है। उसी के प्रकाश से सब प्रकाशित हैं, उसी के प्रकाश से यह सब चमकते हैं। जब सब इच्छाएँ जो मन के दुःख का कारण हैं, जाती रहती हैं, तभी मर्त्य अमर हो जाता है और ब्रह्म को प्राप्त होता है। जब हृदय की गाँठ खुल जाती है और सारे संशय मिट जाते हैं, तभी मर्त्य अमृत होते हैं। यही मार्ग है। यह ज्ञान हमको सुखदायक हो; यह हमारा भोग हो; इससे हमें बल मिले; यह हमारी शक्ति बन जाय; हम परस्पर घृणा न करें; सबको शांति मिले।

आपको वेदांत-दर्शन में इसी प्रकार की बातें मिलेंगी। पहले तो हमें यह देख पड़ता है कि इसमें वह विचार मिलता है जो संसार के सारे विचारों से विलक्षण है। वेदों के पुराने भागों में वही बात थी, अर्थात् बाहरी जगत की खोज। कुछ पुरानी पुस्तकों में यह प्रश्न उठाया गया था कि आदि में था क्या। उस समय न सत् था न असत् था, जब अंधकार अंधकार को ढँके हुए था। फिर "किसने इसे सिरजा?" फिर खोज आरंभ हुई। फिर तो देवताओं और नाना प्रकार की बातें चलीं और अंत को हम देखते हैं कि उन लोगों ने निराश होकर उन बातों को भी छोड़ दिया। उनके समय बाह्य जगत्

में खोज होती रही और जब उन्हें वहाँ कुछ न मिला, तब अंत को जैसा वेदों से जान पड़ता है, उनको स्वयंभू की खोज में भीतर दृष्टि डालनी पड़ी। वेदों का मुख्य विचार यह है कि ताराओं में, नीहारिका में, आकाशगंगा में, यहाँ तक कि सारे बाह्य विश्व में खोजने से कुछ लाभ नहीं है। इससे जन्म मरण के प्रश्न का समाधान नहीं होता। इसी से अपने भीतर के अद्भुत यंत्र का विश्लेषण करना पड़ा और उसी से उनको विश्व के उस रहस्य का ज्ञान हुआ जिसे सूर्य्य और नक्षत्रादि से वे न प्राप्त कर सके थे। इसके लिये विश्लेषण की, चीर-फाड़ की आवश्यकता थी; पर शरीर की चीर-फाड़ की नहीं अपितु आत्मा के विश्लेषण की। उसी आत्मा में उन्हें उस प्रश्न का उत्तर मिला। पर वह उत्तर उन्हें कौन सा मिला? यही कि शरीर से परे, मन से परे वह स्वयंभू है। न वह मरता है और न जन्म लेता है। वह स्वयंभू सर्वव्यापक है; कारण यह कि उसके रूप नहीं है। जिसके रूप नहीं, जो देश काल से बद्ध नहीं, वह एकदेशी नहीं हो सकता। यह हो कैसे सकता है? वह सर्वव्यापक है, हम सब में समान रूप से व्याप्त हो रहा है।

फिर मनुष्य की आत्मा है तो क्या है? एक पक्ष के लोगों की धारणा थी कि एक तो ईश्वर है और उस ईश्वर के अति अनंत आत्माएँ हैं जो भाव में, रूप में और सारी बातों में ईश्वर से पृथक् हैं। यही द्वैतवाद है। यही पुराना, प्राचीन और भोंडा विचार है। दूसरे पक्षवालों ने इस प्रश्न का यह समाधान

किया था कि आत्मा उसी अनंत ब्रह्म का अंश मात्र है । जैसे यह शरीर एक छोटा जगत् है, उसके भीतर मन है, उसके भीतर प्रत्यगात्मा है, उसी प्रकार यह विश्व शरीर है। उसके परे महत्तत्व है और उसके परे विश्वात्मा है । जैसे यह शरीर विश्व के पिंड का एक अंश है, वैसे ही यह प्रत्यगात्मा उस विश्वात्मा का अंश विशेष है। इसी को विशिष्टाद्वैत कहते हैं। अब हम जान गए कि विश्वात्मा अनंत है । फिर अनंतता का अंश कैसे हो सकता है ? इसके टुकड़े टुकड़े और विभाग कैसे होंगे ? काव्य की दृष्टि से तो यह कहना बहुत ही अच्छा है कि मैं उसी अनंत की एक चिनगारी हूँ, पर यह मत विचार से ठीक नहीं जान पड़ता। अनंत के विभाग करने का क्या अर्थ है ? क्या वह भी भौतिक है कि हम उसके खंड खंड कर सकेंगे ? अनंत का भाग हो नहीं सकता । यदि यह संभव हो तो फिर वह अनंत काहे को रहेगा ? फिर इसका प्रतिफल क्या निकला ? उत्तर यही है कि आप ही विश्वात्मा हैं, आप अंश नहीं हैं, अपितु पूर्ण हैं। आप पूर्ण ब्रह्म हैं । फिर प्रश्न यह है कि विभिन्नता क्यों है ? हमें तो करोड़ों प्रत्यगात्माएँ मिलती हैं । वे हैं क्या ? उत्तर यही है कि करोड़ों जल-पूर्ण घड़े हैं और सब में सूर्य्य का पूर्ण प्रकाश पड़ता है, सब में पूरी छाया देख पड़ती है । पर वे हैं तो छाया ही, वास्तविक सूर्य्य तो एक ही है न। इसी प्रकार यह प्रत्यगात्मा ब्रह्म की छाया है; इसके अतिरिक्त कुछ अन्य नहीं है । जो वास्तविक

सत्ता इसके परे है, वही एक ब्रह्म है । वहाँ पर हम सब एक ही हैं। आत्मा तो संसार में एक ही है । वही तुम में, वही मुझ में है, पर है वह एक ही । उसी एक आत्मा की छाया भिन्न भिन्न शरीरों में भिन्न भिन्न प्रत्यगात्मा के रूप में भासमान होती है। पर हमें इसका ज्ञान नहीं है; हम समझते हैं कि हम सब अलग अलग हैं और उससे भी अलग ही हैं। जब तक हम ऐसा समझेंगे, संसार में दुःख ही है। यह भ्रम मात्र है। इसके अतिरिक्त दुःख का दूसरा कारण भय है । मनुष्य दूसरे को हानि क्यों पहुँचाते हैं ? कारण यही है कि वे डरते हैं कि उनके मारे मुझे भोग करना न मिलेगा। कोई तो यह डरता है कि मुझे पर्य्याप्त धन न मिलेगा और इसी भय से वह दूसरे को हानि पहुँचाता वा चोरी करता है। भला जहाँ संसार में एक ही है, वहाँ भय कैसे हो सकता है। यदि मेरे सिर पर वज्र गिरे तो वह वज्र भी मैं ही हूँ, क्योंकि वहाँ तो मैं ही मैं रहूँगा। यदि प्लेग है तो मैं ही हूँ, बाघ है तो मैं ही हूँ, मृत्यु है तो मैं ही हूँ। मैं ही मृत्यु और जीवन दोनों हूँ। हम देखते हैं कि जहाँ यह भाव है कि संसार में दो हैं, वहीं भय है। हमने यह सदा उपदेश करते सुना है कि परस्पर प्रेम रखो। पर इसका उपदेश क्यों किया जाता है ? इसका उत्तर यही है कि हम परस्पर प्रेम इसलिये करें कि हम एक ही हैं। मैं अपने भाई से प्रेम क्यों करता हूँ ? इसी लिये न कि वह और मैं एक ही हूँ। वहाँ भी वही एकता है। यही विश्व की एकता का दृढ़

प्रमाण है। एक छोटी चींटी से लेकर जो हमारे पैर तले पड़ती है, बड़े से बड़े प्राणी तक सबके भिन्न भिन्न शरीर हैं, पर उनकी आत्मा एक है। आप ही सबके मुँह से खाते हैं, सबके हाथों से काम करते हैं, सबकी आँखों से देखते हैं। जब यह भाव उत्पन्न हो जाता है, हम इसे साक्षात् करते हैं, इसे देखते हैं, इसका अनुभव करते हैं, तभी सब दुःख दूर हो जाते हैं और भय भाग जाता है। भला मैं मरूँगा कैसे? मुझसे परे तो कुछ है ही नहीं। जब भय दूर हो जाता है, तभी पूर्ण आनंद प्राप्त होता है, पूर्ण प्रेम का संचार होता है। विश्वव्यापी अनुकंपा, प्रेम, सुख जिसमें कभी विकार नहीं, मनुष्य को सबसे ऊँचे पहुँचा देता है। इसमें कोई वेदना नहीं, इसमें दुःख का लेश नहीं; पर खाने-पीने की बातों से मनुष्य में वेदना उत्पन्न होती है। इसका सारा कारण यही द्वैतभाव है—यही भाव कि मैं विश्व से अलग हूँ, ईश्वर से भिन्न हूँ। पर ज्यों ही हम इस भाव को पहुँच जाते हैं कि 'मैं वह हूँ, मैं विश्वात्मा हूँ, मैं नित्यानंद नित्य मुक्त हूँ' उसी समय हममें सच्चे प्रेम का उदय होता है, भय जाता रहता है और सब दुःख दूर हो जाते हैं।

---

# (२५) याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी ।

हम लोग कहा करते हैं कि "बुरा दिन वही है, जिस दिन भगवत् के नाम का कीर्तन न हो; बदली का दिन बुरा दिन नहीं है।" याज्ञवल्क्य नाम के एक महर्षि थे। आप जानते हैं कि भारतवर्ष के शास्त्रों में विधि है कि सब लोगों को वृद्धावस्था में संसार को त्याग देना चाहिए। अतः याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी से कहा कि "प्रिये, यह लो मेरी सारी धन-संपत्ति, मैं जाता हूँ।" उसने पूछा कि—"महाराज, यदि सारी पृथ्वी धन-पूर्ण हो तो क्या इससे मैं अमर हो जाऊँगी?" याज्ञवल्क्य ने कहा—'नहीं, यह बातें तो होने की नहीं। हाँ इससे तुम धनी हो जाओगी, पर धन से अमरता न होगी।' उसने कहा कि "तो फिर उन्हें लेकर मैं क्या करूँगी जब मैं उनसे अमर न होऊँगी? यदि आपको कोई उपाय ज्ञात हो तो बतलाइए।" याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि—"तू मुझे सदा प्रिय थी और इस प्रश्न के पूछने से और भी अधिक प्रिय है। आ और बैठ। मैं तुझे बतलाता हूँ, सुन और उस पर ध्यान दे।" उसने कहा—"कोई पत्नी पति के लिये पति से प्रेम नहीं करती, वह आत्मा ही के लिये पति से प्रेम करती है। पत्नी के लिये कोई पत्नी से प्रेम नहीं करता, केवल आत्मा के लिये ही वह उससे प्रेम करता है। पुत्र से कोई पुत्र के लिये प्रेम नहीं करता, आत्मा के लिये ही लोग पुत्र से प्रेम करते हैं। धन की कामना से धन

प्रिय नहीं होता, केवल आत्मा की कामना ही से धन प्रिय होता है। ब्राह्मण से कोई ब्राह्मण के लिये प्रेम नहीं करता, केवल आत्मा के लिये ही लोग ब्राह्मण से प्रेम करते हैं। क्षत्रिय से कोई क्षत्रिय के विचार से प्रेम नहीं करता, आत्मा ही के विचार से क्षत्रिय से लोग प्रेम करते हैं। संसार से कोई संसार के लिये प्रेम नहीं करता, आत्मा ही के लिये लोग संसार से प्रेम किया करते हैं। इसी प्रकार देवताओं से कोई देवता के लिये प्रेम नहीं करता, केवल आत्मा के लिये ही देवता लोगों को प्रिय होते हैं। कोई किसी से उसके लिये प्रेम नहीं करता, केवल आत्मा ही के लिये वह उसे प्रिय होता है। अतः आत्मा का श्रवण, मनन और निदध्यासन करना चाहिए। हे मैत्रेयी! जब आत्मा का श्रवण, मनन और निदध्यासन किया जाता है, तभी इन सबका ज्ञान हो जाता है।" इससे क्या तात्पर्य्य निकलता है? हमारे सामने एक अद्भुत विज्ञान आता है। बात यह है कि नीची दशा में सब प्रेम स्वार्थ से होते हैं। कारण यह है कि मैं अपने से प्रेम करता हूँ, इसी लिये मैं दूसरों से प्रेम करता हूँ। पर यह हो नहीं सकता। आजकल भी दार्शनिक हैं जो यह समझते हैं कि आत्मा ही संसार में मुख्य कर्मशक्ति है। यह ठीक तो है, पर मिथ्या भी है। यह आत्मा तो उस सच्ची आत्मा की छाया मात्र है जो इससे परे है। यह मिथ्या और तुच्छ इसलिये जान पड़ता है कि यह स्वल्प है। अनंत प्रेम आत्मा का, जो विश्व है, इस कारण तुच्छ और मिथ्या जान

पड़ता है कि एक छोटे अंश के द्वारा उपलब्ध होता है। यहाँ तक कि जब पत्नी पति के साथ प्रेम करती है, तब चाहे वह इसे जाने वा न जाने, वह पति से आत्मा के लिये प्रेम करती है। यह स्वार्थ इसलिये है कि यह संसार में व्यक्त होता है, पर यह स्वार्थ सचमुच उस स्वार्थ का एक तुच्छ अंश है। जब कोई प्रेम करता है, तब वह उसी आत्मा के द्वारा करता है। यह आत्मा जानने योग्य है। भेद क्या है? जो आत्मा का प्रेम बिना यह जाने करता है कि वह क्या है, उसी का प्रेम स्वार्थ है। जो यह जानकर कि आत्मा क्या है उससे प्रेम करता है, वही मुक्त है; वही ऋषि है। "उसीको ब्राह्मण त्याग देता है जो ब्राह्मण को आत्मा से पृथक् देखता है। उसीको क्षत्रिय त्याग देता है जो क्षत्रिय को आत्मा से पृथक् देखता है। संसार उसे त्याग देता है जो संसार को आत्मा से अलग देखता है। जो सबको आत्मा से पृथक् जानता है, उसके लिये सब चले जाते हैं। यह ब्राह्मण, यह क्षत्रिय, यह संसार, ये देवता जो कुछ हैं, सब कुछ वही आत्मा ही हैं।" इसी प्रकार उसने यह बतलाया कि प्रेम से उसका अभिप्राय क्या है। जब हम किसी वस्तु को विशेषता देते हैं, हम उसे आत्मा से पृथक् मानते हैं। मान लीजिए कि मैं किसी स्त्री से प्रेम करना चाहता हूँ। ज्यों ही उस स्त्री को विशेषता दी गई, वह आत्मा से अलग की गई। मेरा प्रेम शाश्वत न रहा और उसका अंत दुःख होगा। ज्यों ही मैं देखता हूँ कि वह स्त्री आत्मा है, मेरा वह प्रेम पक्का हो जाता है और दुःख

नहीं होता। यही दशा सबकी है। ज्यों ही आपको विश्व की किसी वस्तु से राग होता है, आप उसे विश्व से अलग करते हैं, आत्मा से अलग करते हैं; फिर वेदना उत्पन्न होती है। प्रत्येक वस्तु का जिसके साथ हम उसे आत्मा से अलग जानकर प्रेम करेंगे, परिणाम दुःख और शोक होगा। यदि हम प्रत्येक में उसे आत्मा मानते हुए भोग करें तो दुःख वा वेदना न होगी। यही पूर्ण आनंद है। इस आदर्श पर पहुँचें कैसे? याज्ञवल्क्य आगे चलकर हमें यह बतलाते हैं कि हमें वह दशा कैसे प्राप्त हो सकती है। विश्व तो अनंत है। हम कैसे प्रत्येक वस्तु को लेकर उसको बिना आत्मा के जाने हुए आत्मा समझें? 'जैसे दुंदुभी से जब तक हम दूर हैं, हम शब्द को ग्रहण नहीं कर सकते; पर ज्यों ही हम दुंदुभी के पास पहुँचते हैं और उस पर थाप देते हैं, शब्द हमारे वश में हो जाता है। जब शंख बजता रहता है, हमें ध्वनि पर अधिकार नहीं रहता। जब हम शंख के पास जाते हैं और उसे हाथ में लेते हैं, तभी उसका बजाना हमारे वश में होता है। बीन बजाने में जब हम बीन के पास पहुँचते हैं और उसे उठाकर बजाते हैं, तभी उससे शब्द होता है। जैसे कोई गीली लकड़ी जला रहा है। उससे वर्ण वर्ण के धूएँ और चिनगारियाँ निकलती हैं। इसी प्रकार उस महाभूत से ज्ञान निकलते हैं। सब उसीसे निकले हैं। मानो सारे ज्ञान उसकी साँस के समान निकले हैं। इसी प्रकार सारे जल की गति समुद्र में है, सारे स्पर्श का केंद्र त्वचा है, सारे गंध का नासिका,

सारे स्वादु का जिह्वा, सारे रूपों का चक्षु, सारे शब्दों का आधार कान, सारे विचारों का आधार मन, सारे विचारों का हृदय, सारे कर्मों का हाथ है। जैसे नमक की एक कंकड़ी यदि समुद्र में डाल दी जाय तो वह मिल जाती है, हम उसे फिर निकाल नहीं सकते, इसी प्रकार हे मैत्रेयी, वह आत्मा नित्य अनंत है; उसमें सब ज्ञान है। उसीसे सारा विश्व निकलता और फिर उसीमें समा जाता है। उसमें मृत्यु वा मरण का कोई ज्ञान नहीं रह जाता। हमें यह विचार होता है कि हम उससे चिनगारी की भाँति निकले हैं और जब तुमको उसका ज्ञान हो जाता है, तब तुम उसमें जाकर एकीभूत हो जाते हो। हम विश्वात्मा हैं।"

मैत्रेयी इससे भयभीत हो गई, जैसे सर्वत्र लोग डर जाया करते हैं। वह कहने लगी—"महाराज, आपने तो मुझे भ्रम में डाल दिया। आपने यह कहकर मुझे डरा दिया कि फिर कोई देवता न रहेंगे, सारी व्यक्तिता जाती रहेगी; न कोई देखने वा पहचानने को रहेगा, न प्रेम करने को और न घृणा करने को। तो फिर हमारी क्या दशा होगी?" "मैत्रेयी! मैं तुम्हें भ्रम में नहीं डालना चाहता। तुम इस बात को छोड़ दो। तुम भले ही डरो; पर दो कहाँ हैं कि कोई किसी को देखे या सुने, किसी का स्वागत करे, किसी को जाने? पर जब सब आत्मा हो गया, तब कौन किसे देखे, कौन किसकी सुने, कौन किसका स्वागत करे, कौन किसको जाने।' इसी एक विचार को शोपनहार ने ले लिया है और उसके दर्शन में इसी के शब्द

गूँज रहे हैं। किसके द्वारा हम विश्व को जानें? किससे उसे जानें? जाननेवाले को जानें कैसे? क्योंकि उसीसे और उसी के द्वारा हम सबको जानते हैं। किससे हम उसे जानें? कुछ कारण तो है ही नहीं। वही वह करण है। उसी करण का जानना सदा आवश्यक है।

यहाँ तक तो यही बात है कि सब अनंत आत्मा हैं। वही वास्तविक व्यक्तिता है जिसमें न कोई अंश है न भाग; यह तुच्छ भाव अत्यंत हेय है, भ्रमपूर्ण है। पर प्रत्येक रूप की चिनगारी में वही अनंतात्मा चमक रहा है। सब उसी आत्मा के विग्रह स्वरूप हैं। उसे पावें तो कैसे पावें? पहले यह आप बतलाइए। याज्ञवल्क्य कहते हैं—"पहले आत्मा को श्रवण करना चाहिए।" इस प्रकार उन्होंने कहा; फिर उन्होंने युक्तिवाद दिया और अंत को यह सिद्धांत स्थिर किया कि उसे जानें कैसे जिससे सारा ज्ञान हो सकता है। फिर अंत को उसका निदध्यासन करते हैं। फिर वह सूक्ष्म और स्थूल जगत् को लेते हैं और दिखलाते हैं कि कैसे वे एक चक्र पर घूम रहे हैं और कैसे सुंदर जान पड़ते हैं। पृथ्वी कैसी आनंदमय और कैसी सबकी उपकारिणी है; और सब प्राणी पृथ्वी के लिये कैसे उपकारी हैं। वह स्वयं प्रकाश आत्मा है, कोई उसके लिये उपकारी नहीं हो सकता। जो आनंद है वह निकृष्ट क्यों न हो, उसीका आभास है। जो अच्छा है, सब उसका आभास है, और जब वह आभास छाया होती है, तो उसे बुरा कहते हैं।

कोई दो देवता हैं ही नहीं। जब वही कम व्यक्त होता है, तब उसीको अंधकार या बुराई कहते हैं; और जब अधिक व्यक्त होता है तब वही प्रकाश कहलाता है। यही बात है। वह भले और बुरे में केवल मात्रा के भेद से है, कम व्यक्त वा अधिक व्यक्त के भेद से। हमारे ही जीवन का उदाहरण लीजिए। हम अपने बचपन में कितनी ही चीजों को देखते हैं जो हमें अच्छी लगती हैं, पर वास्तव में वे बुरी होती हैं। कितनी ही चीजें बुरी जान पड़ती हैं जो सचमुच भली होती हैं। पर यह भाव बदलता कैसे है? कैसे विचार उन्नत होता जाता है? जिसे हम एक समय बहुत अच्छा समझते हैं, वही पीछे वैसा अच्छा नहीं रह जाता। अतः भलाई और बुराई विश्वास की बात हुई, और वे कहीं हैं नहीं। भेद केवल मात्रा का है। सब उसी आत्मा की अभिव्यक्ति है। वह सब रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है। जब अभिव्यक्ति बहुत स्थूल होती है, तब हम उसे बुरा कहते हैं और जब सूक्ष्म होती है, तब हम उसे अच्छा कहते हैं। जब सारी बुराई जाती रहती है, तब वही सर्वोत्तम होता है। अतः विश्व में जो कुछ है, सबका पहले निदध्यासन करना चाहिए। उसी अवस्था में वे सब हमें अच्छे देख पड़ेंगे क्योंकि वे सर्वोत्कृष्ट है। यहाँ बुरा भी है और भला भी, पर सब सर्वोत्कृष्ट सत् ही हैं। वह न बुरा है न भला, वह सर्वोत्कृष्ट है। सर्वोत्कृष्ट एक ही हो सकता है, भले बुरे तो अनेक हो सकते हैं। भले बुरे में मात्रा का अंतर होगा, पर सर्वोत्कृष्ट

कोई एक ही होगा। जब उसी सर्वोत्कृष्ट पर सूक्ष्म आवरण रहता है, तब हम उसे भिन्न भिन्न प्रकार का भला कहते हैं और जब आवरण स्थूल होता है, तब वही बुरा कहलाता है। भले और बुरे विश्वास के भिन्न भिन्न रूप हैं। वे भिन्न भिन्न प्रकार के द्वैत विचार से उत्पन्न हुए हैं और नाना प्रकार के भाव और शब्द लोगों के हृदय में जम गए हैं। वे स्त्री पुरुष को कष्ट दे रहे हैं और वहाँ आततायियों की भाँति डेरा डाले हुए हैं। वे हमें बाघ बना देते हैं। सारी घृणा जो हम दूसरों के प्रति करते हैं, वह इसी भले और बुरे के विचार से जो बचपन से हमारे मन में गड़े हैं, उत्पन्न होती है। मनुष्य के संबंध में हमारा विचार नितांत मिथ्या हो जाता है; हम इस सुंदर पृथ्वी को नरक बनाए हुए हैं। पर ज्यों ही हममें से भले बुरे के विचार जाते रहते हैं, वह फिर स्वर्ग हो जाती है।

पृथ्वी सब प्राणियों के लिये मीठी है और सब प्राणी पृथ्वी के लिये मीठे हैं। वे परस्पर एक दूसरे के सहायक हैं। और सारी मिठास आत्मा है—वही स्वयंप्रकाश अमृत जो पृथ्वी के भीतर है। यह मिठास किसकी है? बिना उसके मिठास हो कैसे सकती है? वही एक मिठास नाना रूपों में प्रकट हो रही है। जहाँ कहीं किसी मनुष्य में कुछ प्रेम, कुछ मिठास है, चाहे वह महात्मा हो वा पापात्मा, देवता हो वा हिंसक, चाहे वह शारीरिक हो, मानसिक हो वा आध्यात्मिक, सब वही है। शारीरिक सुख वही है, मानसिक सुख वही है, आध्यात्मिक सुख वही

है। बिना उसके और दूसरा हो कैसे सकता है? यह मिठास उसके अतिरिक्त कहाँ है? यह याज्ञवल्क्य का कथन है। जब तुम उस दशा को प्राप्त होते हो और सबको उसी दृष्टि से देखते हो, जब तुम्हें, मद्यप को जो आनंद मद्य में मिलता है, उसमें भी उसीकी मिठास दिखाई पड़े, तब जानो कि तुम्हें सत्य मिल गया। तभी तुम यह जानोगे कि आनंद क्या है, शांति किसे कहते हैं, प्रेम किसका नाम है। जब तुम में यह व्यर्थ का भेद भाव बना है, यह बच्चों का सा तुच्छ पक्षपात बना है, सब प्रकार के दुःख ही दुःख होंगे। पर वह अमर, वह तेजस्वी जो पृथ्वी के भीतर है, यह उसी की मिठास है और वही शरीर में है। यह शरीर मानों पृथ्वी है और शरीर के सारे बल, शरीर के सारे सुख-भोग वही हैं। आँखें देखती हैं, त्वचा स्पर्श करती है; यह सब विषय हैं क्या? वही स्वयंप्रकाश है जो शरीर में है; वही आत्मा है। यह संसार जो सबको इतना मीठा है और सब प्राणी संसार को मीठे हैं, क्या है? वही स्वयंप्रकाश तो है। इस लोक में आनंद ही निर्विकार है। हममें भी वही आनंद है। वही ब्रह्म है। "यह वायु सबको इतनी मीठी है और सब प्राणी इसे इतने मीठे हैं, पर वह जो वायु में स्वयं-प्रकाश और अविनाशी सत्ता है, वही इस शरीर में भी है। वह अपने को सब प्राणियों के जीवन के रूप में व्यक्त कर रहा है। सूर्य्य सब प्राणियों का मधु है और सब प्राणी सूर्य्य के मधु हैं। जो स्वयंप्रकाश पुरुष सूर्य्य में है, उसकी तुच्छ किरण

हममें भी है। सिवाय उसके आभास के और हो क्या सकता है। वह शरीर में है; यह उसकी ज्योति है, जिससे हम प्रकाश को देखते हैं। चंद्रमा सबका मधु है; सब प्राणी चंद्रमा के मधु हैं; पर वह स्वयंप्रकाश अविनाशी जो उस पुरुष की आत्मा है, वह मन रूप से व्यक्त हो रहा है। विद्युत् सबको मधु है, सब विद्युत् के मधु हैं। पर वह स्वयंप्रकाश और अविनाशी विद्युत् की भी आत्मा है। वही हम में है; ब्रह्म है। मनुष्य पशुओं का मधु है और पशु मनुष्य के मधु हैं। पर जो मनुष्य की आत्मा है, वही पशु की आत्मा है। यही आत्मा सब प्राणियों का राजा है।" ये विचार मनुष्य के बड़े काम के हैं; ये निद्-ध्यासन के लिये ध्यान करने के लिये हैं। उदाहरण के लिये मान लीजिए कि हम पृथ्वी पर निद्ध्यासन करते हैं। पृथ्वी पर विचार कीजिए और साथ ही इसे भी जानिए कि हम वह हैं जो पृथ्वी में है; दोनों एक ही हैं। शरीर को पृथ्वी समझिए और आत्मा को वह आत्मा जानिए जो उसमें है। वायु को वह आत्मा जानिए जो वायु में है और वही मुझमें है। सब एक ही हैं, केवल भिन्न भिन्न रूप में व्यक्त हो रहे हैं।

# (२६) आत्मा और परमात्मा ।

( हार्टफोर्ड, अमेरिका )

प्राचीन काल से, शताब्दियों से यह शब्द सुनाई दे रहा है; हिमालय के ऋषि और वानप्रस्थ लोग यही पुकार रहे हैं; यही बातें सेमिटिक लोग पुकार पुकारकर कह रहे हैं; यही उपदेश बुद्धदेव और अन्य धर्मोपदेष्टा गला फाड़ फाड़कर दे रहे हैं; यही ध्वनि उन लोगों के मुँह से निकल रही है जिन लोगों ने पृथ्वी के आदि में प्रकाश को देखा है, उस प्रकाश को जो मनुष्य के साथ जहाँ जहाँ वह जाता है, चलता है और सदा उसके साथ साथ रहता है। वह शब्द हमारे पास आ रहा है । वह शब्द उन छोटे छोटे सोतों की नाईं है जो पर्वतों पर से निकलते हैं। कहीं वे गुप्त होते हुए और कहीं प्रकट होते हुए अंत को मिलकर एक प्रचंड बलवती नदी का रूप धर लेते हैं। ये संदेश सारी जातियों और संप्रदायों के महात्मा स्त्री-पुरुषों के मुँह से निकल रहे हैं और मिलकर हमसे डंके की चोट पूर्व काल से यह पुकार पुकारकर कहते आ रहे हैं। वह पहला शब्द जो इनकी ध्वनि से निकलता है, यही है कि सब धर्मों के लिये और तुम्हारे लिये शांति हो । यह विरोध की बात नहीं है, अपितु धर्म की एकता का शब्द है। हमें पहले इसका अर्थ समझना चाहिए। इस शताब्दी के आदि में लोगों को भय था कि अब धर्म का अंत हो जायगा। वैज्ञानिक अन्वेषणों के हथौड़े के नीचे पुराना

अंधविश्वास शीशे की भाँति चूर चूर हो रहा था। जिनके पास धर्मविश्वास और बेठिकाने उपचारों की गठरी थी, वे बड़े सोच में, बड़ी निराशा में पड़े थे; उनके अवस्थान छूट रहे थे। उनके हाथ से सब निकले जा रहे थे। कुछ काल तक तो अब तब लगा था और संशयवाद और प्रकृतिवाद की बढ़ती हुई लहर सब कुछ जो उसके सामने पड़ता था, साफ करती जा रही थी। ऐसे लोग भी थे जिन्हें एक बात भी जो उनके मन में आती थी, बोलने का साहस नहीं होता था। कितनों ने तो रोग असाध्य समझ लिया था और जान बैठे थे कि सब धर्म सदा के लिये जाते रहेंगे। पर लहर या धार मुड़ गई और हमारे त्राण के लिये धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन पहुँच गया। भिन्न भिन्न धर्मों की तुलना से हमें जान पड़ा कि सबका तत्व एक ही है। जब मैं बच्चा था, मुझमें अविश्वास घुसा और मुझे जान पड़ा कि मुझे धर्म के संबंध में सारी आशाएँ त्यागनी पड़ेंगी। पर सौभाग्य की बात है कि मुझे ईसाई धर्म, मुसलमानी धर्म और बौद्धादिक धर्मों के ग्रंथों को पढ़ने का अवकाश मिला और मुझे जान पड़ा कि जिन मूल सिद्धांतों की शिक्षा मेरे धर्म में दी गई है, उन्हीं की शिक्षा सब धर्मों में है। इसका मुझ पर यह प्रभाव पड़ा कि मैं अपने मन में कहने लगा कि सत्य क्या है? क्या वह संसार है? उत्तर मिला, हाँ। मैंने पूछा क्यों? जान पड़ा कि इसलिये कि हमें ऐसा जान पड़ता है। क्या सुहाने शब्द जो हमें सुनाई पड़ते हैं, सत्य हैं? हाँ, अवश्य हैं; हम

उन्हें सुनते ही हैं। हमें जान पड़ा कि मनुष्य के शरीर है, आँख और कान आदि इंद्रियाँ है। उसमें एक आध्यात्मिक प्रकृति भी है जो दिखाई नहीं पड़ती। इस आध्यामिक शक्ति से वह भिन्न भिन्न धर्मों का अध्ययन कर सकता है और उसे जान पड़ता है कि सब धर्मों की, चाहे उनकी शिक्षा भारतवर्ष के जंगलों में दी गई हो वा ईसाई देशों में, मूल तत्व एक ही है। इससे यह प्रमाणित होता है कि मनुष्य के लिये धर्म की स्वाभाविक रूप से आवश्यकता है। एक धर्म का प्रमाण दूसरे धर्मों की प्रामाणिकता पर अवलंबित है। मान लीजिए कि हमारे छः उँगलियाँ हैं, और किसी के नहीं हैं। आप कहेंगे कि यह अधिकांगता है। यही तर्क वा युक्ति इसके लिये भी काम में आ सकती है कि एक ही धर्म सत्य और दूसरा मिथ्या है। ऐसा एक धर्म उसी छँगुली के समान संसार में अस्वाभाविक होगा। अतः हम देखते हैं कि यदि एक धर्म सत्य है, तो और सब धर्म भी सत्य ही होंगे। असार बातों में अंतर हो सकता है, पर सार रूप में सब एक ही हैं। यदि मेरी पाँच उँगलियों की बात सत्य है, तब तो आपकी पाँच उँगलियाँ भी सत्य ही हैं।

जहाँ मनुष्य हैं, वहीं उनमें विश्वास उत्पन्न होगा और धर्म के भाव का विकास होगा। संसार के भिन्न भिन्न धर्मों के पर्य्यवेक्षण से मुझे दूसरी बात यह जान पड़ती है कि आत्मा और परमात्मा के संबंध में भिन्न भिन्न विचारों की श्रेणियाँ हैं। पहली श्रेणी तो यह है कि यह बात सब धर्मवाले स्वीकार

करते हैं कि इस शरीर के अतिरिक्त जो नाशमान है, इसमें एक और अंश है जिसका नाश नहीं है। वह निर्विकार, नित्य, अविनाशी है। पर कुछ धर्मवालों की शिक्षा है कि यद्यपि उस अंश का नाश नहीं है, फिर भी उसका आदि अवश्य है। पर जिसका आदि है, उसका अंत भी अवश्य ही है। हमारे इस शरीर का जो प्रधान वा सार अंश है, उसका न आदि है और न अंत। और इसके परे, इस नित्य स्वभाव के परे एक और नित्य सत्ता है जिसका अंत नहीं है—ईश्वर वा परमात्मा। लोग संसार के आदि और मनुष्य के आदि की बातें करते हैं। आदि का अर्थ है कल्प का आदि वा आरंभ। कहीं यह अर्थ नहीं है कि समस्त का, कार्य्य-कारण रूप सृष्टि का आदि भी कभी है। यह असंभव है कि इस सृष्टि का आरंभ भी हुआ हो। जिसकी आदि है उसका अंत भी अवश्य ही है। भगवद्गीता में कहा है—न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपः। न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्। (गी० अ० २।१२।) जहाँ जहाँ सृष्टि के आदि की बात है, वहाँ वहाँ कल्पादि ही से अभिप्राय है। आपका शरीर भले ही मर जाय, पर आत्मा कभी नहीं मरता।

आत्मा के इस विचार के साथ ही साथ उसकी पूर्णता के संबंध में कुछ और विचार भी मिलते हैं। आत्मा स्वयं पूर्ण है। इब्रानी नई धर्म पुस्तक में लिखा है कि मनुष्य आदि में पूर्ण था। मनुष्य ने अपने हाथ से, अपने कर्म से अपने को अपवित्र

बना लिया। अब उसे अपने खोए हुए स्वभाव को प्राप्त करना है। कुछ लोग इन बातों को रूपक, आख्यायिका और सांकेतिक बातें बताते हैं। पर जब हम इन बातों की छानबीन करते हैं, तब हमें जान पड़ता है कि उनका अर्थ यही है कि मनुष्य की आत्मा स्वरूप से शुद्ध है और मनुष्य को अपनी वास्तविक शुद्धि को प्राप्त करना है। पर उसकी प्राप्ति हो तो कैसे हो? ईश्वर वा परमात्मा के जानने से। जैसा कि इब्रानी बाइबिल में लिखा है कि 'कोई ईश्वर को नहीं देख सकता, पर उसके पुत्र के द्वारा।" इसका अर्थ क्या है? यही कि ईश्वर का देखना मनुष्य जीवन का उद्देश है। पुत्रता तभी उत्पन्न होगी जब हम अपने पिता के साथ एकीभूत हो जायँगे। स्मरण रखो कि मनुष्य ने अपनी पवित्रता अपने कर्मों से खोई है। यदि हमें दुःख होता है तो उसके कारण हमारे कर्म ही हैं; ईश्वर का इसमें दोष नहीं है। इसके साथ घनिष्ठता से संबंध रखनेवाला विश्वव्यापी पुनर्जन्म का विचार भी था; पर उसे यूरोपियनों ने छिन्न भिन्न कर डाला।

आप लोगों में कितनों ने इस सिद्धांत को सुना होगा और भूल गए होंगे। पुनर्जन्म का सिद्धांता आत्मा की नित्यता के सिद्धांत के साथ ही साथ चलता है। जिसका अंत है, वह अनादि नहीं हो सकता; जिसका आदि है, वह अनंत हो नहीं सकता। हम ऐसी असंभव बात को जैसी मनुष्य की आत्मा के आरंभ की बात है, मान नहीं सकते। पुनर्जन्म के सिद्धांत से

आत्मा की मुक्त-स्वभावता सिद्ध होती है। मान लीजिए कि आदि है ही, तो मनुष्य की अपवित्रता का सारा भार ईश्वर पर पड़ता है। वह दयामय पिता संसार के पापों का उत्तरदायी! यदि पाप इस प्रकार आते हैं, तब फिर एक दूसरे से अधिक दुःखी क्यों हैं? यह पक्षपात की बात क्यों, जब पाप दयामय ईश्वर ही के कारण हैं। फिर करोड़ों मनुष्य लात क्यों खा रहे हैं, भूखों क्यों मरते हैं और जिन्होंने कुछ किया ही नहीं, वे दुःख क्यों भोग रहे हैं? इसका उत्तरदाता कौन है? यदि इसमें हमारा कोई वश नहीं, तब तो ईश्वर ही के सिर इसका भार है। अतः इससे अच्छा समाधान यही है कि मैं ही अपने दुःख का कारण हूँ। यदि मैं चक्कर को चलाता हूँ तो उसके चलाने का उत्तरदाता मैं हूँ। यदि मैं दुःख को ला सकता हूँ, तो मैं उसे दूर भी कर सकता हूँ। इससे यही निकलता है कि मैं स्वतंत्र हूँ। भाग्य कोई वस्तु है ही नहीं। कोई हमें बाध्य नहीं कर सकता। जिसे मैंने किया है, मैं उसे मिटा भी सकता हूँ।

इस सिद्धांत के संबंध में एक युक्ति सुनने के लिये मैं आप से धैर्य्य करने की प्रार्थना करूँगा। कारण यह है कि वह कुछ गहन है। हमें ज्ञान अनुभव से होता है; यही ज्ञान का एक मात्र साधन है। जिसे हम अनुभव कहते हैं, वह चेतन अवस्था में होता है। उदाहरण के लिये मान लीजिए कि एक मनुष्य पियानो बजा रहा है। वह उसकी कुंजियों पर समझ बूझकर हाथ फेरता जाता है। वह इस प्रकार हाथ फेरता जाता है

और फिर उसकी उँगलियाँ आपसे आप फिरने लगती हैं। फिर वह किसी राग को बिना स्वर का ध्यान किए ही बजा सकता है। यही बात हमें अपने संबंध में भी जान पड़ती है। हमारी प्रवृत्तियाँ हमारे पूर्व के ज्ञानपूर्वक अभ्यास से उत्पन्न हुई हैं। बच्चा कुछ प्रवृत्तियाँ लेकर उत्पन्न होता है। पर वे आती कहाँ से हैं? कोई बच्चा बिना संस्कार के, वासनाहीन और सादा चित्त लेकर उत्पन्न नहीं होता। उस पर पूर्व के संस्कार रहते हैं। यूनान और मिस्र के दार्शनिकों का सिद्धांत था कि कोई बालक वासनाहीन चित्त लेकर नहीं उत्पन्न होता। प्रत्येक बच्चा अपने पूर्व जन्मों के कर्मों के सैंकड़ों संस्कार लेकर उत्पन्न होता है। उसमें इस जन्म के उपार्जित संस्कार नहीं होते; और हम यह मानने के लिये बाध्य हैं कि वे अवश्य उसके पूर्व जन्म के संस्कार हैं जिन्हें वह साथ लाता है। घोर से घोर अनात्मवादी वा प्रकृतिवादी भी यह स्वीकार करता है कि यह पूर्व जन्मों के कर्म के फल हैं। उनका केवल इतना ही अधिक कहना है कि यह पितृ-पैतामहिक दाय है। अब यदि दाय मात्र से काम चल जाय तो आत्मा के मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं है और शरीर ही से सारे संशयों का समाधान हो जाता है। पर हमें अध्यात्मवाद और अनात्मवाद के तर्कवितर्क और वादविवाद यहाँ लाने की आवश्यकता नहीं है। हम देखते हैं कि युक्तिपूर्वक निगमन के लिये पूर्व जन्म का स्वीकार करना आवश्यक है। यही पूर्व काल से

लेकर आज तक के दार्शनिकों का विश्वास रहा है। यहूदी लोगों का ऐसे ही सिद्धांत पर विश्वास था। ईसा मसीह का भी इस पर विश्वास था। वह बाइबिल में कहता है कि 'मैं इब्राहम से भी पहले था।' एक और जगह वह कहता है कि 'यही इलियास था जो आगे को हुआ।'

सारे धर्म जो भिन्न भिन्न जातियों में भिन्न दशा में प्रचलित हुए हैं, एशिया खंड ही से उत्पन्न हुए हैं और एशिया के लोग ही उन्हें ठीक ठीक समझ सकते हैं। जब वे मातृभूमि के बाहर गए, तब उनमें मिथ्या बातें मिल गईं। ईसाई धर्म के अति गंभीर और उदार विचारों को यूरोप में इस कारण लोगों ने नहीं समझा कि लिखनेवालों के भाव और विचार उनके लिये विदेशी थे। उदाहरण के लिये मरियम के चित्र को ले लीजिए। सब चित्रकार अपने अपने विचार के अनुसार मरियम के चित्र बनाते हैं। मैंने ईसा के अंतिम भोजन के सैंकड़ों चित्र देखे हैं। ईसा को मेज पर बैठाया गया है। पर ईसा मेज पर कभी नहीं बैठते थे। वे अपने शिष्यों के साथ भूमि पर बैठते थे और उनके सामने एक प्याला रहता था जिसमें वे अपनी रोटियाँ डुबाकर खाते थे। वह रोटी आपकी रोटी सी नहीं होती थी। उस कटोरे वा प्याले में सालन रहता था और वे उसीमें रोटियाँ डुबाकर खाते थे। ईसा के इस वाक्य से यही सिद्ध होता है—"वही जो आज मेरे साथ रोटियाँ डुबाकर खा रहा है, मुझे पक-

ड़ुबावेगा।" दूसरों की अपरिचित प्रथा को समझना किसी जाति के लिये कठिन है; तो फिर युरोपवालों के लिये यहूदियों की उस अज्ञात प्रथा को समझना कितना कठिन था जिसकी बात शताब्दियों के परिवर्तन होने पर यूनानियों, रोमनों और अन्य जातियों से होकर उन तक पहुँची थी। इसमें संदेह नहीं कि उन सारी पौराणिक गाथाओं और कल्पनाओं के भीतर ढके हुए होने पर भी ईसाई धर्म के भाव को लोगों ने बहुत कम जान पाया है और निस्संदेह उसे लोगों ने आजकल का बाजारू धर्म बना लिया है।

अब हम फिर अपने आशय पर आते हैं। लगभग सभी धर्मों में आत्मा की नित्यता की शिक्षा है; और यह भी बात मिलती है कि उसका प्रकाश मंद पड़ गया और उसे पुनः ईश्वर के ज्ञान से उसकी पहली पवित्रता प्राप्त हो जायगी। इन भिन्न भिन्न धर्मों में ईश्वर के विषय में क्या विचार हैं? ईश्वर के संबंध में जो प्रारंभिक विचार है वह बड़ा ही भोंडा है—अव्यक्त है। प्राचीन जातियों के सूर्य्य, पृथ्वी, वायु, जल आदि भिन्न भिन्न देवता थे। यहूदियों में हमें बहुतेरे ऐसे ही देवता मिलते हैं जो परस्पर लड़ते भिड़ते रहते थे। फिर हमें इलोहिम मिलता है जिसकी पूजा यहूदियों और बाबुलवालों में होती थी। फिर हम देखते हैं कि उनमें एक की प्रधानता हो चली थी पर भिन्न भिन्न जत्थों के भाव अलग अलग थे। सब यही समझते थे कि हमारा ईश्वर सबसे बड़ा है। वे लोग इसे

लड़कर सिद्ध करना चाहते थे। जो संग्राम में अच्छा लड़ता था, वही अपने ईश्वर को सबसे बड़ा प्रमाणित कर सकता था। ये जातियाँ कुछ न कुछ जंगली थीं। पर धीरे धीरे पुराने विचारों के स्थान पर नए विचार आते गए। वे सब पुराने विचार चले गए और चले जा रहे हैं। वे सब धर्म शताब्दियों की वृद्धि के फल थे; कुछ आकाश से नहीं टपके थे। सब अणु अणु करके बने थे। फिर एकेश्वरवाद का भाव आया, अर्थात् एक ईश्वर पर विश्वास जो सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान् हो, विश्व मात्र का एक ईश्वर हो। यह ईश्वर सृष्टि से परे होता है और स्वर्ग में रहता है। उसमें उसकी कल्पना करनेवालों के ठोस विचार भरे रहते हैं। उसका दाहिना और बायाँ होता है और उसके हाथ में एक पोथी रहती है। पर एक बात हमें देख पड़ती है कि ये भिन्न भिन्न जत्थों के ईश्वर अब सदा के लिये जाते रहे और उनका स्थान विश्व के ईश्वर ने, जो देवताओं का भी देवता था, ले लिया। फिर भी वह वही अलौकिक ही बना रहा। न उसके पास कोई पहुँच सकता, न कुछ उसके पास जा सकता था। पर धीरे धीरे यह विचार भी बदल गया और हमें ईश्वर अपने ही स्वरूप में सन्निहित मिलता है।

नई नियम की पुस्तक में यह कहा गया है कि 'हमारे पिता जो आकाश वा स्वर्ग में हैं।' अर्थात् स्वर्ग में रहनेवाला ईश्वर मनुष्यों से अलग है। हम पृथ्वी पर रहते हैं, वह स्वर्ग में।

फिर आगे चलकर हमें इस बात की शिक्षा मिलती है कि ईश्वर प्रकृति में अंतर्भूत है। वह केवल स्वर्ग ही का ईश्वर नहीं है, अपितु पृथ्वी पर भी वह है। वह ईश्वर हममें भी है। हिंदू-दर्शनों में हमें ईश्वर के अपने सान्निध्य की इसी प्रकार की श्रेणी मिलती है। पर हमें यहीं पड़े न रहना चाहिए। आगे चलकर अद्वैतवाद मिलता है। वहाँ चलकर मनुष्य को जान पड़ता है कि मैं जिस ईश्वर की उपासना करता हूँ, वह स्वर्ग और पृथ्वी का पिता नहीं है, अपितु वहाँ "मैं और मेरा बाप एक ही हैं" की बात है। वह अपनी आत्मा में यह साक्षात् करता है कि मैं स्वयं ईश्वर हूँ। केवल उसकी एक लघु अभिव्यक्ति मात्र हूँ। मुझमें जो सत्य है, वही है; उसमें जो सत् है, वह मैं हूँ। ईश्वर और मनुष्य के बीच के गड्ढे पर सेतु बँध गया। इस प्रकार हमें जान पड़ता है कि ईश्वर के जानने से हमें स्वर्ग का साम्राज्य कैसे मिल जाता है।

पहली वा द्वैत् अवस्था में मनुष्य यह समझता है कि मैं व्यक्तिविशेष आत्मा देवदत्त वा यज्ञदत्त हूँ। वह कहता है कि मैं सदा देवदत्त वा यज्ञदत्त रहूँगा, और दूसरा न होऊँगा। चाहे घातक भले ही आवे और कहे कि मैं मार डालूँगा। देवदत्त यज्ञदत्त भले ही न रहें, पर वह शुद्ध आत्मा में लौट जायगा।

'धन्य हैं वे जिनके हृदय शुद्ध हैं, क्योंकि वे ईश्वर को देखेंगे'। क्या हम ईश्वर को देख सकते हैं? वास्तव में नहीं देख सकते। क्या हम ईश्वर को जान सकते हैं? वास्तव में नहीं

जान सकते। यदि ईश्वर जाना जा सके तो वह ईश्वर ही न रहेगा। ज्ञान तो सीमा है। पर "मैं और मेरा बाप एक ही हैं।" मुझे अपनी आत्मा में ही सत् मिलता है। किसी किसी धर्म में यह भाव व्यक्त किया गया है; औरों में संकेत मात्र से आया है। किसी में वह बिल्कुल निकाल ही दिया गया है। ईसा की शिक्षाओं को इस देश में लोग बहुत कम समझते हैं। आप क्षमा करें, मैं यह कह सकता हूँ कि उनको कभी किसी ने नहीं समझा।

आर्धक्य की भिन्न भिन्न श्रेणियों की पूर्णता और पवित्रता लाभ करने की बड़ी आवश्यकता है। धर्म के भिन्न भिन्न संप्रदायों का आधार वही भाव है। ईसा कहता है कि "स्वर्ग का साम्राज्य तुम्हारे भीतर है।" फिर वह यह भी कहता है कि, 'हमारे बाप जो स्वर्ग में हैं'। इन दोनों परस्पर विरुद्ध बातों का समाधान क्या है? इनका परिहार यह है। जब उसने अंतिम वाक्य कहा तब वह अशिक्षितों से, जो धर्म की बात नहीं जानते थे, बातें करता था। उनसे उन्हीं की बोलचाल में बातें करना उचित है। जनसाधारण को स्थूल भाव की आवश्यकता है, ऐसी चीज की जिसका ग्रहण वे अपनी इंद्रियों से कर सकें। संभव है, संसार में कोई बड़ा विद्वान् हो, पर वह धर्म की बातों में बाल-धी हो। जब मनुष्य की आध्यात्मिकता प्रोन्नत हो जाती है, तभी वह इस बात को कि स्वर्ग का राज्य मेरे ही भीतर है, समझ सकता है। यह मन का वास्तविक साम्राज्य है। इस

प्रकार हम देखते हैं कि जो स्पष्ट विरोध और असंबद्धता धर्मों में मिलती है, वह वृद्धि की भिन्न भिन्न अवस्थाओं ही के कारण है, उनकी ही द्योतक है। इस प्रकार हमें किसी के धर्म पर दोषारोपण करने की आवश्यकता नहीं है। वृद्धि की ऐसी भी दशाएँ हैं जहाँ मूर्तियों, प्रतीकों और विभिन्नताओं की आवश्यकता है। वे ऐसी भाषाएँ हैं जिन्हें उन पर विश्वास रखने-वाली आत्माएँ ही समझ सकती हैं।

दूसरी बात जो मैं आपके सामने लाना चाहता हूँ, यह है कि धर्म में विधि और वाद नहीं हुआ करते। इसकी कोई बात नहीं कि आप क्या पढ़ते हैं वा आप किस वाद को मानते हैं। बात यह है कि आप साक्षात् क्या करते हैं। "धन्य हैं वे जिनका अंतःकरण शुद्ध है क्योंकि वे ईश्वर को देखेंगे"। हाँ इसी जन्म में देखेंगे; और वही मोक्ष है। जगत् में ऐसे लोग भी हैं जो यह शिक्षा देते हैं कि वह शब्दों के उच्चारण मात्र से मिल सकता है। पर किसी बड़े महात्मा की शिक्षा यह है कि मोक्ष के लिये बाह्य बातों की आवश्यकता नहीं है। इसके प्राप्त करने की शक्ति हमारे भीतर है। हम ईश्वर में रहते हैं और उसी में चलते फिरते हैं। मत और संप्रदाय अपना काम करते रहते हैं। वे बच्चों के लिये हैं और थोड़े ही दिन तक रहते हैं। पुस्तकें धर्म का कारण नहीं हैं, अपितु धर्म पुस्तकों के कारण है। हमें यह भूल न जाना चाहिए। किसी पुस्तक ने ईश्वर को नहीं उत्पन्न किया, पर ईश्वर ने सारी बड़ी बड़ी पुस्तकें प्रेरणा

करके प्रकट कीं। किसी पुस्तक ने आत्मा को उत्पन्न नहीं किया। हमें यह भूल न जाना चाहिए। सभी धर्मों का परिणाम वा अंत ईश्वर को आत्मा में साक्षात् मात्र करना है। यही एक विश्वव्यापी धर्म है। यदि कोई सत्य सारे धर्मों में है, तो मैं कह सकता हूँ कि वह ईश्वर का साक्षात्कार मात्र है। भाव और रीतियों में भेद भले ही हो, पर सब में व्यापक भाव वही है। सहस्रों भिन्न भिन्न व्यासार्ध वा त्रिज्याएँ भले ही हों, पर सब एक ही केंद्र पर मिलती हैं और यही ईश्वर का साक्षात्कार है। वही जो इस इंद्रिय के जगत् के परे, इस नित्य के खाने पीने तथा व्यर्थ बकवास के जगत् के परे और इस मिथ्या छाया तथा स्वार्थ के जगत् के परे है। वह संसार की सारी पुस्तकों से परे, सारे संप्रदायों से परे, सारे अहंकार से परे है और यही अपने भीतर ईश्वर का साक्षात्कार है। कोई मनुष्य सारे संसार के धर्मों को क्यों न मानता हो, वह सारी पवित्र पुस्तकों की गठरी सिर पर क्यों न लादे चले, वह सारी पवित्र नदियों में स्नान क्यों न कर चुका हो, फिर भी यदि उसे ईश्वर का बोध नहीं है तो मैं उसे घोर नास्तिक मानता हूँ। और कोई मनुष्य जो कभी किसी गिरजा वा मंदिर में न गया हो, न कोई पूजा-प्रतिष्ठा करता हो, पर यदि वह अपने भीतर ईश्वर का साक्षात् करके इस मिथ्या जगत् से पार पहुँच गया हो तो वही महात्मा, ऋषि, मुनि सब कुछ है। ज्यों ही कोई उठकर यह कहता है कि मैं और मेरा धर्म सच्चा है, दूसरे सब झूठे हैं, वह

आप सबसे बढ़कर झूठा है। वह यह नहीं जानता कि उसका सच्चा होना दूसरों के सच्चे होने ही पर अवलंबित है। सारी मनुष्य जाति के लिये प्रेम और दानशीलता ही सच्ची धार्मिकता की पहचान है। मैं केवल इस बात के मौखिक कहने को कि सब लोग भाई हैं, नहीं मानता। यह मनुष्य मात्र के जीवन को एक समझने की बात है। जहाँ तक वे भिन्न नहीं हैं, मेरी समझ में सारे मत और संप्रदाय मेरे ही हैं, सब अच्छे हैं। वे सब लोग सच्चे धर्म के सहायक हैं। मैं यह कहूँगा कि संप्रदाय में जन्म ग्रहण करना बहुत अच्छा है, पर संप्रदाय में आजन्म पड़े रहना अच्छा नहीं है। बच्चे होकर उत्पन्न होना बहुत ही अच्छा है, पर सदा बच्चे बने रहना अच्छा नहीं है। मंदिर, पूजा और कर्मकांड यह सब बच्चों के लिये बहुत ही अच्छे हैं। पर जब वे बड़े हो जाते हैं, तब उनको मंदिर आदि की आवश्यकता नहीं रहती। हमें सदा बच्चे ही नहीं बने रहना चाहिए। यह तो वैसी ही बात है कि कोई एक ही अँगरखे को सब छोटे बड़े को पहनाना चाहे। मैं संसार में संप्रदायों के होने का खंडन नहीं करता। ईश्वर करे कि वे दो करोड़ से भी अधिक हो जायँ; और हैं भी। जितना वे बढ़ेंगे, उतना ही चुनने के लिये लोगों को अवसर मिलेगा। जिस बात पर मेरी आपत्ति है, वह यह है कि किसी एक धर्म को सब दशाओं में प्रयुक्त करना। यद्यपि सभी धर्म सारतः एक ही हैं, पर उन सबके भिन्न भिन्न रूप भिन्न भिन्न जातियों में विभिन्न अवस्थाओं के

कारण हो गए हैं। हमें अपना निज का धर्म, जहाँ तक कि बाह्य अवस्था से संबंध है, रखना चाहिए।

बहुत दिन हुए, मुझे अपने देश में एक महात्मा से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। हम प्रेरित पुस्तकों के विषय में जैसे हमारा वेद, आपकी इंजील और मुसलमानों का कुरान है, सामान्य रूप से बातें करते रहे। जब बातें हो चुकीं, तब, महात्मा ने मुझ से कहा कि मेज पर जाओ और उस पर से एक पोथी उठा लाओ। वह एक ऐसी पुस्तक थी जिसमें और बातों के अतिरिक्त वर्ष में होनेवाली वर्षा के संबंध की बातों का वर्णन भी था। महात्मा ने कहा, इसे पढ़ो। मैंने उसमें यह पढ़ा कि इस वर्ष इतनी वर्षा होगी। फिर उसने कहा कि इस पुस्तक को ले जाकर निचोड़ो। मैंने उसे निचोड़ा। तब महात्मा ने कहा, बच्चा, इससे तो एक बूँद भी पानी नहीं निकला। जब तक पानी न निकले, तब तक यह पुस्तक ही पुस्तक है। इसी प्रकार जब तक धर्म से आपको ईश्वर का बोध न हो, तब तक वह व्यर्थ है। जो पुस्तकों को धर्म के लिये पढ़ता है, वह वैसा ही है जैसा कि वह गधा जिस पर शक्कर की गाँठ लदी थी, पर जिसे उसकी मिठास का बोध नहीं था।

क्या लोगों को हम यह सम्मति दें कि घुटने टेककर चिल्लाओ कि हम हीन और पापी हैं? नहीं कभी नहीं, हमें उनको उनकी दैवी प्रकृति का स्मरण दिलाना चाहिए। मैं आपसे एक कहानी कहूँगा। एक सिंहनी शिकार ढूँढ़ती हुई भेड़ों के एक झुंड पर

झपटी। वह एक भेड़ के ऊपर टूटी कि इसी बीच में उसे वहीं बच्चा उत्पन्न हुआ और वह मर गई। वह सिंह का बच्चा भेड़ों के झुंड में पला। वह घास चरता था और में में करता था। उसे इसका ज्ञान नहीं था कि मैं सिंह हूँ। एक दिन एक सिंह भेड़ों के झुंड के सामने आ गया। उसे यह देखकर आश्चर्य्य हुआ कि झुंड में एक बड़ा सिंह है जो घास चरता और में में करता है। सिंह को देखते ही सब भेड़ें भागीं और वह सिंह भी जो भेड़ों में पला था, उन्हीं के साथ भागा। सिंह अवकाश की प्रतीक्षा करता रहा। उसे एक दिन वह भेड़ों में रहनेवाला सिंह सोता मिला। उसने उसे जगाया और कहा कि तुम सिंह हो। वह नहीं कहकर में में करने लगा। पर वह सिंह उसे पकड़कर एक झील के किनारे ले गया और बोला कि अपनी छाया तो देखो कि मेरा और तुम्हारा रूप एक है वा नहीं। उसने देखकर कहा कि हाँ, है तो। फिर वह सिंह गरजा और उससे बोला—गरजो। भेड़ों में रहनेवाले सिंह ने गरजने का उद्योग किया और वह वैसे ही गरजने लगा। फिर वह भेड़ न रह गया। मित्रो, मैं तो तुमसे यही कहना उचित समझूँगा कि तुम सिंह हो।

यदि घर में अंधकार है, तो क्या तुम यह रोते पीटते फिरोगे कि—"अंधकार है। अंधकार है" ? कभी नहीं, इसका उपाय यही है कि दीपक जलाओ, अंधकार भाग जायगा। प्रकाश के उत्पन्न करने का एक मात्र उपाय यही है कि तुम

अपने भीतर अध्यात्म का दीया जलाओ, फिर पाप और अपवित्रता का अंधकार भाग जायगा। अपनी उच्च आत्मा का ध्यान करो, नीच आत्मा का नहीं।

---

## (२७) जीवात्मा, प्रकृति और परमात्मा।

वेदांत दर्शन के अनुसार मनुष्य में तीन पदार्थ हैं। बाहरी पदार्थ शरीर है जो मनुष्य का स्थूल शरीर कहलाता है और जिसमें आँख, नाक, कान आदि इंद्रियाँ हैं। आँख इंद्रिय नहीं है; वह केवल गोलक है। उस गोलक के परे इंद्रिय है। इसी प्रकार कान श्रोत्रेंद्रिय नहीं हैं; वे गोलक मात्र हैं। उनके परे इंद्रिय है जिसे आधुनिक शरीर-विज्ञान में केंद्र कहते हैं। यदि आँख का केंद्र नष्ट हो जाय तो आँख देख नहीं सकती। यही दशा हमारी सारी इंद्रियों की है। फिर इंद्रियों को भी किसी पदार्थ का स्वयं बोध नहीं हो सकता, जब तक उनके साथ औरों का मेल वा संयोग न हो। यह मन है। कितनी ही बार आपके देखने में यह आया होगा कि आप किसी और विचार में लगे थे। घड़ी बजी और आपने उसे सुना नहीं। यह क्यों? कान था ही, उसमें कंप गए और वे मस्तिष्क तक पहुँचे; पर आपने फिर भी नहीं सुना। कारण यह था कि मन इंद्रियों से युक्त नहीं था। बाह्य पदार्थों के संस्कार को इंद्रियाँ ग्रहण करती हैं और जब मन उनसे संयुक्त रहता है, तब वह संस्कारों को

ले लेता है और उसे मानों वह रंग दे देता है जिसे अहंकार कहते हैं। मान लो कि मैं एक काम में लगा हूँ और मेरे हाथ की उँगली में एक मच्छड़ काट लेता है। मुझे उसका काटना इसलिये नहीं जान पड़ता कि मेरा मन किसी और काम में लगा रहता है। फिर जब मेरा मन इंद्रियों से संयुक्त होता है, तब मुझे वेदना होती है। जब मुझे वेदना होती है, तब मुझे मच्छड़ के काटने का बोध होता है। अतः केवल मन का इंद्रियों से संयुक्त रहना ही पर्य्याप्त नहीं है, इच्छा के रूप में वेदना का होना भी आवश्यक ठहरा। वह शक्ति जिसके कारण वेदना होती है, ज्ञानशक्ति वा बुद्धि कहलाती है। पहले बाहरी इंद्रियों के गोलक का होना आवश्यक है, फिर इंद्रियों का, फिर इंद्रियों के साथ मन के संयोग का, फिर वेदना के लिये बुद्धि के प्रति सयोग का; और जब ये सब बातें हो चुकीं, तब द्रष्टा और फिर दृश्य के भाव की उत्पत्ति होती है और तब कहीं जाकर प्रत्यक्ष ज्ञान वा बोध होता है। इंद्रियों के गोलक शरीर में होते हैं। गोलकों के परे इंद्रियाँ हैं, फिर उनसे परे मन है। फिर बुद्धि, फिर अहंकार है। इसी अहंकार से मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, आदि भावों की उत्पत्ति होती है। ये सब क्रियाएँ एक शक्ति से होती हैं। इस शक्ति को संस्कृत में प्राण कहते हैं। यह शरीर मनुष्य का एक भाग है जिसमें इंद्रियों के गोलक हैं। इसे स्थूल शरीर कहते हैं। इसके भीतर इंद्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकार हैं। इन सब के साथ प्राण मिलकर एक 'संयोग' बनता है जिसे

सूक्ष्म शरीर कहते हैं। यह अत्यंत सूक्ष्म तत्वों वा मूलों से बने होते हैं—इतने सूक्ष्म कि शरीर में कितना ही आघात पहुँचे, पर इससे उनको कोई हानि नहीं पहुँचती। वे शरीर के विकार प्राप्त होने पर भी बने ही रहते हैं। स्थूल शरीर स्थूल पदार्थों का होता है और यह सदा बनता और विकार को प्राप्त होता रहता है। पर भीतर की इंद्रियों, मन, बुद्धि और अहंकार की रचना सूक्ष्म पदार्थों से है। इतने सूक्ष्म कि जिससे वे कल्प कल्पांतर तक बनी रहती हैं। वे इतने सूक्ष्म होते हैं कि कोई उनको रोक नहीं सकता, वे हर एक अवरोध को पार कर सकते हैं। जैसे स्थूल शरीर जड़ है, वैसे ही सूक्ष्म शरीर भी जड़ है, वह सूक्ष्म पदार्थों से बना भले ही हो। यद्यपि उसके एक भाग को मन, दूसरे को बुद्धि और तीसरे को अहंकार कहते हैं, पर यह आप जान सकते हैं कि उनमें कोई ज्ञाता नहीं हो सकता। उनमें कोई द्रष्टा वा साक्षी नहीं हो सकता। मन, बुद्धि वा अहंकार की क्रियाएँ किसी दूसरे के लिये हैं। ये सब सूक्ष्म भूतों से भले ही बने हों, पर वे स्वयंप्रकाश नहीं हैं। उनमें स्वतः प्रकाश नहीं है। यह मेज की अभिव्यक्ति जो हो रही है, किसी भौतिक पदार्थ के कारण नहीं है। अतः उनकी आड़ में कोई अवश्य है जो उनका द्रष्टा, भोक्ता और अभिव्यक्त करनेवाला है। उसे आत्मा कहते हैं। वही सबका सच्चा द्रष्टा है। बाह्य इंद्रिय गोलक और इंद्रियाँ संस्कार को ग्रहण करती हैं और उनको मन के पास ले जाती हैं। मन बुद्धि को देता है

और बुद्धि पर उनका प्रतिबिंब दर्पणवत् पड़ता है जिसकी दूसरी पीठ आत्मा है। वह उन्हें देखता है और अपनी आज्ञा देता है। वह इन करणों का अधिष्ठाता है, गृहपति और शरीर का राजा है। अहंकार, बुद्धि, मन, इंद्रियाँ, गोलक और शरीर सब उसके शासन को मानते हैं। वही इन सबको व्यक्त कर रहा है। वही मनुष्य की आत्मा है। हम देखते हैं कि जो बात विश्व के एक अणु वा लघु अंश में है, वही सारे विश्व में भी होगी। यदि विश्व का नियम साम्य है तो विश्व के एक एक अंश की रचना उसी नियम पर हुई है जिससे समस्त विश्व की है। अतः हम सहज में विचार सकते हैं कि इस स्थूल भौतिक पिंड के परे जिसे हम अपना विश्व कहते हैं, कोई सूक्ष्म भौतिक विश्व भी अवश्य है जिसे हम मन कहते हैं; और उसके परे आत्मा है जिसके कारण सारे ज्ञान होते हैं और जो इस विश्व का शासक और अधिपति है। जो आत्मा सब मनों के परे है, उसे प्रत्यगात्मा कहते हैं; और वह आत्मा जो इस विश्व के परे उसका शासक और अधिपति है, ईश्वर कहलाता है।

दूसरी विचारणीय बात यह है ये सब कहाँ से उत्पन्न होते हैं। उत्तर यह है कि उत्पन्न होने से क्या अभिप्राय है। यदि इसका यह आशय है कि शून्य से किसी पदार्थ की उत्पत्ति हो सकती है, तब तो यह असंभव है। यह सब सृष्टि और अभिव्यक्तियाँ जो देख पड़ती हैं, शून्य से कभी उत्पन्न नहीं हुई हैं। बिना कारण के कार्य्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। पर

कार्य्य है क्या ? कारण ही का तो रूपांतर मात्रा है। यह शीशा है। मान लीजिए कि हम इसकी बुकनी कर डालें और रासायनिक परिक्रिया से इसे नष्ट कर दें; तो क्या आप समझते हैं कि यह शून्य हो जायगा ? कदापि नहीं। रूप भले ही नष्ट हो जाय, पर वह अंश जिससे वह बना है, रह जायगा। वे इंद्रियातीत दशा को क्यों न प्राप्त हो जायँ, पर वे रहते हैं अवश्य; और नितांत संभव है कि उन अंशों से फिर शीशा बन सके। जैसे यह एक दशा में सत्य है, वैसे ही यह सब दशाओं में सत्य हो सकता है। असद् से सद् की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती। न सद् कभी असद् हो सकता है। यह सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल हो सकता है। समुद्र से भाप उठकर मेंह की बूँद बनती है, वह पर्वत पर जाती है, फिर वह पानी हो जाती है और सैंकड़ों मील बहकर समुद्र में पहुँचती है। बीज से वृक्ष होता है। वृक्ष नष्ट हो जाता है और बीज रह जाता है। फिर दूसरा बीज उत्पन्न होता है और अंत को फिर बीज ही रह जाता है। इसी प्रकार चक्कर चलता रहता है। पक्षी को देखिए। वह अंडे से निकलता है, सुंदर पक्षी हो जाता है। जीवन भर जीता है, फिर मर जाता है और अंडे बीज रूप में रह जाते हैं। यही अवस्था पशुओं और मनुष्यों की भी है। सब किसी बीज से, किसी पूर्व रूप से वा सूक्ष्म दशा से उत्पन्न होते हैं; स्थूल से स्थूल होते जाते हैं और अंत को सूक्ष्म होते होते अपने कारण में लय हो जाते हैं। सारा विश्व

इसी प्रकार चलता रहता है। एक समय आता है जब यह समस्त विश्व सूक्ष्म होते होते अंत को तिरोभूत हो जाता है और अति सूक्ष्म अवस्था को धारण कर लेता है। हमें आधुनिक विज्ञान और ज्योतिषशास्त्र के द्वारा जान पड़ता है कि यह पृथ्वी ठंढी होती जाती है। कालांतर में यह बहुत ठंढी हो जायगी और तब यह छिन्न भिन्न हो जायगी और इतनी सूक्ष्म हो जायगी कि यह आकाश के रूप में हो जायगी। पर फिर भी परमाणु रह जायँगे और उनसे पुनः दूसरी पृथ्वी उत्पन्न होगी। फिर वह लुप्त हो जायगी और दूसरी बनेगी। इस प्रकार पहले यह विश्व अपने कारण में लय हो जायगा; फिर इसकी सामग्री इकट्ठी हो जायगी और दूसरा रूप धारण करेगी। वह लहर की भाँति उठती बैठती रहेगी। कारण में लय होने और फिर निकलकर रूप धारण करने की यह क्रिया चलती रहेगी। इसी को संस्कृत में संकोच और विकाश कहते हैं। सारे विश्व में संकोच और विकाश होता रहता है। आधुनिक विज्ञान की बोलचाल में उनका अवरोह और आरोह होता रहता है। आपने आरोह के संबंध में सुना होगा कि रूपों का विकाश कैसे तुच्छ रूपों से धीरे धीरे उन्नति होते होते होता है। हम जानते हैं कि विश्व में शक्ति की मात्रा सदा एक ही रहती है और द्रव्य का नाश नहीं होता। आप किसी प्रकार द्रव्य का एक अणु भी कम नहीं कर सकते। आप एक छटाँक बल को निकाल नहीं सकते हैं, न मिला ही सकते हैं।

उसकी मात्रा सदा समान रहती है। केवल संकोच और विकाश से अभिव्यक्ति में भेद पड़ता रहता है। अतः यह कल्प पूर्व कल्प के संकोच का विकाश है और इस विकाश का फिर संकोच होगा। सब सूक्ष्मातिसूक्ष्म होते जायँगे और फिर दूसरे कल्प का आरंभ होगा। इस प्रकार सारा विश्व अपनी कक्षा में जा रहा है। अतः हम देखते हैं कि इस दृष्टि से कि असद् से सद् की उत्पत्ति होती है, कोई सृष्टि होती ही नहीं। इसी को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि यह अभिव्यक्ति है और ईश्वर उसका अभिव्यंजक है। विश्व मानो उसके श्वास प्रश्वास की भाँति उससे निकलता और उसमें पैठता रहता है। वेदों में एक उपमा के रूप में इसका क्या ही अच्छा वर्णन किया गया है। 'महाभूत इस विश्व को श्वास की तरह खींचता और फेंकता रहता है।' जैसे हम छोटे छोटे कणों वा अणुओं को श्वास से बाहर निकालते और फिर भीतर ले जाते रहते हैं। यह तो बहुत ही ठीक है, पर प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या यह पहला कल्प है? उत्तर यह है कि पहले कल्प का अर्थ क्या है। कल्प तो कुछ है ही नहीं। यदि आप काल का आदि मानें, तब तो वह काल रहा ही नहीं। तनिक काल के आरंभ का तो ध्यान कीजिए; फिर आपको उसके आगे भी काल को मानना पड़ेगा। तनिक देश के आरंभ का ध्यान कीजिए, आपको उससे परे भी देश दिखाई पड़ेगा। देश और काल अनंत हैं; अतः उनका आदि और अंत

नहीं है। यह विचार इस विचार से कहीं अच्छा है कि ईश्वर ने सृष्टि को पाँच मिनट में रच डाला और फिर वह सोने लगा और अब तक सोता ही है। इसके अतिरिक्त इससे ईश्वर नित्य स्रष्टा जान पड़ता है। लहर चढ़ती उतरती रहती हैं और वह उस नित्य क्रिया का प्रेरक है। जैसे विश्व अनादि और अनंत है, वैसे ही ईश्वर भी है। हमारी समझ में ऐसा होना आवश्यक है; क्योंकि यदि हम कहते हैं कि कभी सृष्टि नहीं थी, चाहे वह सूक्ष्म रूप में हो वा स्थूल रूप में, तो इससे यह मतलब निकलता है कि तब ईश्वर ही नहीं था; क्योंकि ईश्वर को तो हम विश्व का साक्षी मानते हैं। जब विश्व नहीं था, तब वह भी नहीं था। एक बात दूसरी से निकलती है। कारण के भाव से कार्य्य की सिद्धि होती है। यदि कार्य्य नहीं तो कारण कहाँ। अतः यह निगमन निकलता है कि यदि विश्व नित्य है तो ईश्वर भी नित्य है।

आत्म भी नित्य अवश्य है। क्यों? हम पहली बात यह देखते हैं कि आत्मा भौतिक नहीं है। न यह स्थूल शरीर है और न सूक्ष्म शरीर है जिसे हम मन और बुद्धि कहते हैं। न यह भौतिक शरीर है और न यह वह है जिसे ईसाई लोग आध्यात्मिक शरीर कहते हैं। स्थूल शरीर और आध्यात्मिक शरीर दोनों विकारवान् हैं। स्थूल शरीर में तो क्षण प्रति क्षण विकार होता रहता है और आध्यात्मिक शरीर बहुत दिन तक बना रहता है; और जब वह छूट जाता है तब आत्मा मुक्त हो जाता है। जब मनुष्य मुक्त हो

जाता है, तब आध्यात्मिक शरीर छिन्न भिन्न हो जाता है। स्थूल शरीर, जब जब मनुष्य मरता है तब तब, छिन्न भिन्न होता रहता है। आत्मा किसी और पदार्थ से नहीं बना है, अतः वह अविनाशी है। नाश से हमारा क्या प्रयोजन है? नाश कहते हैं उन पदार्थों के छिन्न भिन्न हो जाने को जिनसे वह वस्तु बनी हो। यदि शीशा टूट जाय और उसके पदार्थ छिन्न भिन्न हो जायँ तो शीशे का नाश हो जायगा। अंशों के इसी छिन्न भिन्न होने को नाश कहते हैं। इससे यह मतलब निकलता है कि जो अंशों वा टुकड़ों से नहीं बना है, उसका नाश नहीं है। आत्मा किसी पदार्थ से नहीं बना है। यह अविभाज्य एकता है। इसी युक्ति से यह अनादि भी अवश्य है। अतः आत्मा अनादि और अनंत है।

अब तीन पदार्थ हुए। एक प्रकृति है जो अनंत तो है, पर विकारवाली है। सारी प्रकृति अनादि और अनंत है, पर उसमें नित्य विकार होता रहता है। यह उसी नदी की भाँति है जो समुद्र में सहस्रों वर्ष से बहती जा रही है। वह है तो वही नदी, पर उसमें क्षण क्षण पर विकार होता रहता है, जल के अंश अपने स्थान को निरंतर बदलते रहते हैं। इसके अतिरिक्त ईश्वर निर्विकार और नियंता है। और आत्मा भी ईश्वर की भाँति नित्य और निर्विकार है, पर नियंता के अधीन है। एक स्वामी है, दूसरा दास है और तीसरी प्रकृति है।

ईश्वर विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण है।

कारण का कार्य्य के उत्पन्न करने के लिये रहना आवश्यक है। यही नहीं, कारण ही कार्य्य हो जाता है। शीशा कुछ पदार्थों और कुछ शक्तियों से, जिन्हें बनानेवाला काम में लाता है, बनता है। शीशे में शक्ति और द्रव्य दोनों हैं। जो शक्ति लगी है वह संसक्ति के रूप में है। यदि संसक्ति की शक्ति न रहे तो शीशे के अंश अलग अलग हो जायँ। द्रव्य भी शीशे में है। केवल रूप बदल गया है। कारण ही कार्य्य हो गया है। जो आपको कार्य्य दिखाई पड़ता है, वह आपको सदा कारण में देख पड़ेगा। कारण ही कार्य्य रूप में व्यक्त होता है। अब यह परिणाम निकलता है कि ईश्वर यदि विश्व का कारण है, और विश्व कार्य्य है तो ईश्वर ही विश्व बन गया है। यदि आत्मा कार्य्य और ईश्वर कारण है तो ईश्वर ही आत्मा बन गया है। प्रत्येक आत्मा इसी लिये ईश्वर का एक अंश है। जैसे अग्नि से अनेक चिनगारियाँ निकलती हैं, वैसे ही अनंत शाश्वत विश्वात्मा से यह आत्मा निकलते हैं।

हम यह देख चुके हैं कि नित्य ईश्वर और नित्य प्रकृति है। और अनंत संख्यक आत्माएँ भी हैं। यह धर्म की प्रथम श्रेणी है। इसे द्वैतवाद कहते हैं जिसमें मनुष्य अपने को ईश्वर से निरंतर पृथक् देखता है—जिसमें ईश्वर पृथक् है, आत्मा पृथक् है और प्रकृति पृथक् है। यह द्वैतवाद है जिससे द्रष्टा और दृश्य सर्वत्र एक दूसरे से विरुद्ध और अलग अलग हैं। उसमें द्रष्टा और दृश्य के भेद से द्वैत दिखाई पड़ता है। जब मनुष्य

ईश्वर को देखता है, तब वह उसे दृश्यवत् दिखाई पड़ता है और वह अपने को द्रष्टा जानता है। वे नितांत पृथक् हैं। यह मनुष्य और ईश्वर का द्वैतभाव है। धर्म का प्रायः यही पहला रूप है।

अब वह विचार आता है जिसको मैं अभी प्रकट कर चुका हूँ। मनुष्य यह जानने लगता है कि ईश्वर विश्व का कारण है और विश्व कार्य्य है। ईश्वर ही विश्व और आत्मा हो गया है; पर वह एक अंश मात्र है और ईश्वर पूर्ण है। हम अति तुच्छ हैं, केवल अग्नि की चिनगारी के समान हैं और सारा विश्व ईश्वर की अभिव्यक्ति मात्र है। यह दूसरी श्रेणी है। संस्कृत में इसी को विशिष्टाद्वैत कहते हैं। जैसे यह शरीर है और शरीर आत्मा को आवृत्त किए हुए है और आत्मा शरीर में व्याप्त है, अतः यह सारा विश्व और आत्मा मानों ईश्वर का शरीर है। जब स्थूल अभिव्यक्ति होती है, तब भी विश्व ईश्वर का शरीर ही रहता है। जैसे मनुष्य की आत्मा मनुष्य के शरीर और मन की आत्मा है, वैसे ही ईश्वर हमारी आत्माओं की भी आत्मा है। आप सब लोगों ने यह बातें सारे धर्मों में सुनी होंगी कि ईश्वर हमारी आत्माओं की भी आत्मा है। इस वाक्य का यही अर्थ है। वही उनमें रहता है, उनको प्रेरित करता है और उनका शासन करता है। पहली श्रेणी द्वैतवाद में हममें से प्रत्येक पृथक् पृथक् है और ईश्वर तथा प्रकृति से सदा के लिये अलग है। दूसरे में हम अलग तो हैं, पर ईश्वर से पृथक् नहीं हैं। हम सब छोटे छोटे अणु के समान हैं जो

समष्टि में रहते हैं और वह समष्टि ईश्वर है। हम पृथक् तो हैं, पर ईश्वर के साथ एकीभूत हैं। हम सब उसमें हैं। हम सब उसी के अंश हैं। अतः हम एक ही हैं। फिर भी मनुष्य मनुष्य में, मनुष्य और ईश्वर में विभिन्नता और पार्थक्य है भी, पर नहीं भी है।

फिर एक और सूक्ष्म प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या अनंत के विभाग हो सकते हैं। अनंत के भाग का अर्थ क्या है? यदि आप तर्क करें तो आपको यह असंभव प्रतीत होगा। अनंत के भाग हो नहीं सकते, वह सदा अनंत ही रहेगा। यदि उसका भाग हो सकेगा तो प्रत्येक भाग भी अनंत ही होगा। दो अनंत हो नहीं सकते। मान लो दो हों भी, तो एक दूसरे को ससीम करेंगे और दोनों ससीम हो जायँगे। अनंतता एक ही रहेगी और वह अविभक्त रहेगी। इस प्रकार यह परिणाम निकलता है कि अनंतता एक ही है, अनेक नहीं; और एक अनंत आत्मा की छाया करोड़ों दर्पणों में पड़ रही है और भिन्न भिन्न आत्माओं के रूप में भासमान हो रही है। वही अनंत आत्मा इस विश्व का आधारभूत है जिसे ईश्वर कहते हैं। वही अनंत आत्मा मनुष्य के मन का अधारभूत है; और उसकी ओट में वह है जिसे मनुष्य की आत्मा कहते हैं।

# (२८) विश्व-विधान।

दो लोक हैं—सूक्ष्म और स्थूल, आभ्यंतर और बाह्य। दोनों से अनुभव द्वारा हमें सत्य का ज्ञान होता है। सूक्ष्म वा बाह्य जगत् से अनुभव द्वारा जो ज्ञान मिलता है, वह मनोविज्ञान (योग), अध्यात्म विद्या (वेदांत) और धर्म है; और बाह्य जगत् से जो ज्ञान मिलता है, वह भौतिक विज्ञान (वैशेषिक) है। जो शुद्ध और सत्य ज्ञान है, उसे दोनों जगतों के अनुभव से प्रमाणित होना चाहिए। सूक्ष्म से स्थूल को और स्थूल से सूक्ष्म को प्रमाणित होना चाहिए। भौतिक विज्ञान को आभ्यंतर जगत् का पूरक वा अंग होना चाहिए और आभ्यंतर जगत् को बाह्य का साधक। पर प्रायः इनमें अनेक बातें एक दूसरी के विरुद्ध प्रतीत होती हैं। इतिहास के एक काल में आभ्यंतर प्रधान हो जाता है और बाह्य के विरुद्ध विवाद आरंभ कर देता है। आधुनिक समय में बाह्य वा भौतिक की प्रधानता है और उससे योग और वेदांत की अनेक बातें दब गई हैं। जहाँ तक मुझे बोध है, योग के मुख्य अंश आधुनिक भौतिक विज्ञान के तत्व के अनुकूल हैं। यह किसी व्यक्ति विशेष के लिये आवश्यक नहीं है कि वह सब बातों में व्युत्पन्न हो; न यह किसी जाति वा वंश के भाग्य की बात है कि वह ज्ञान के सारे क्षेत्रों में समान रूप से पारगंत हो। आधुनिक युरोप के विद्वान बाह्य भौतिक विज्ञान की छानबीन में अवश्य व्युत्पन्न और

कुशल हैं, पर वे आभ्यंतर वा अध्यात्म विषय की छानबीन में व्युत्पन्न नहीं हैं। इसके विरुद्ध पूर्वीय लोग बाह्य भौतिक विज्ञान के विषय में उतने प्रवल पंडित तो नहीं हैं, पर वे आध्यात्मिक विज्ञान में बड़े ही दक्ष हैं। यही कारण है कि पूर्वीय भौतिक विज्ञान वा वैशेषिक पश्चिमीय भौतिक विज्ञान से नहीं मिलता; और पश्चिमवालों के मनोविज्ञान आदि पूर्ववालों के योग और वेदांत के विरुद्ध हैं। पश्चिमी वैज्ञानिकों ने पूर्वी वैशेषिक-शास्त्रज्ञों को परास्त कर दिया है। साथ ही इसके यह सब का कथन है कि हमारा आधार सत्य पर है। और जैसा कि हम पूर्व में कह आए हैं, वास्तविक सत्यता किसी विज्ञान की क्यों न हो, एक दूसरे की विरोधी न होगी। आभ्यंतर सत्य बाह्य सत्य के अनुकूल ही होता है।

हम यह भली भाँति जानते हैं कि आधुनिक ज्योतिषियों और वैज्ञानिकों के विश्वविधान का विचार किस प्रकार यूरोप के धर्म की जड़ काट रहा है; यह वैज्ञानिक अन्वेषण किस प्रकार के होते हैं और वे धर्म के गढ़ पर कैसे गोले बरसा रहे हैं। हम यह भी जानते हैं कि धर्मवालों ने किस प्रकार इन अन्वेषणों को रोकने का प्रयत्न किया है।

मैं यहाँ पूर्वीय सांख्ययोग की कुछ बातों का जो विश्व विधान के संबंध में हैं, तो वर्णन करना चाहता हूँ। आपको यह आश्चर्य जान पड़ेगा कि वे आधुनिक विज्ञान की बातों से किस प्रकार मिलती जुलती हैं और जहाँ कहीं उनमें कुछ विरोध

दिखाई पड़ता है, वहाँ आपको आधुनिक विज्ञान की न्यूनता जान पड़ेगी, उनकी नहीं। हम सब प्रकृति के शब्द का प्रयोग करते हैं। प्राचीन सांख्यदर्शन में दो नाम आए हैं, एक प्रकृति, दूसरा अव्यक्त। इसी से परमाणु, अणु, गुण, मन, बुद्धि, चित्त आदि का प्रादुर्भाव होता है। यह आश्चर्य जान पड़ता है कि भारतवर्ष के दार्शनिकों और अध्यात्म विद्या के पंडितों ने कई युग पहले इस बात को कहा है कि मन प्राकृतिक वा भौतिक पदार्थ है। आजकल के अनात्मवादी लोग जो सिद्ध करने की चेष्टा कर रहे हैं, वह क्या है? यही न कि मन भौतिक है। और ऐसे ही बुद्धि और चित्त भी भौतिक हैं; सब अव्यक्त से प्रादुर्भूत होते हैं। सांख्य अव्यक्त को प्रकृति की सत्, रज और तम की साम्यावस्था कहता है। निकृष्ट गुण का नाम तम है जिससे संकोच वा आकर्षण होता है। तम से रज कुछ ऊँचा है। इससे विकास वा प्रसारण होता है; और सर्वोत्कृष्ट गुण सत् है जो इन दोनों को साम्य भाव में रखता है। जब तक आकुंचन प्रसारण की यह दोनों शक्तियाँ अर्थात् तम और रज सत्व गुण के वश में रहती हैं, संसार में न तो सृष्टि ही होती है और न किसी प्रकार की गति होती है। ज्यों ही साम्य भाव जाता रहता है और वैषम्य आता है, इन दोनों गुणों में एक प्रधानता हो जाती है; गति का आरंभ होता है और सृष्टि आरंभ हो जाती है। यह क्रिया यथा कल्प बारी बारी होती रहती है। अर्थात् वैषम्य दशा में गुणों का मिश्रण होता है और विकास

आरंभ होता है। साथ ही साथ सब साम्य दशा की ओर प्रवृत्त होते जाते हैं और अंत को सबका लय हो जाता है। फिर वैषम्य दशा आती है और सृष्टि आरंभ होती है; और इस प्रकार सृष्टि समुद्र की लहर के समान आविर्भूत और तिरोभूत होती रहती है। सृष्टि को समुद्र की लहर समझ लीजिए जो बारी बारी उठती और बैठती रहती है। कितने ही दार्शनिकों का मत है कि यह दशा समस्त विश्व के लिये एक साथ होती है, अर्थात् एक ही समय सबका लय हो जाता है। दूसरे कहते हैं कि एक समय केवल एक ही जगत का लय होता है, अन्य का लय और समय में होता रहता है। ऐसे करोड़ों जगत हैं जिनका नित्य लय और सृष्टि होती रहती है। मैं तो दूसरे मत का माननेवाला हूँ कि समस्त विश्व का एक साथ लय नहीं होता, भिन्न भिन्न जगतों का लय भिन्न भिन्न समय में होता रहता है। पर सिद्धांत यही है कि सब दृश्य-जगत् में क्रमशः उत्पत्ति और लय की क्रिया होती रहती है। इस प्रकार साम्यावस्था को प्राप्त होने को प्रलय कहते हैं। विश्व की उत्पत्ति और प्रलय की उपमा हिंदू धर्म-शास्त्रकारों ने ईश्वर के श्वास-प्रश्वास से दी है, मानों विश्व ईश्वर की साँस की भाँति निकलता पैठता रहता है। जब प्रलय हो जाता है तो विश्व क्या होता है? वह सूक्ष्म दशा में, जिसे सांख्य दर्शन में कारण वा प्रकृति कहते हैं, रहता है। यह देशकाल और परिणाम से मुक्त नहीं होता। सब बने रहते हैं, केवल सूक्ष्माति सूक्ष्म रूप को प्राप्त हो जाते

हैं। मान लीजिए कि सारा विश्व सूक्ष्म दशा को वा संकोच दशा को प्राप्त हो रहा है। हम सब अणु रूप में हो जाते हैं; पर इस विकार का हमें अनुभव नहीं होगा। कारण यह है कि हमारे सब अंश साथ ही साथ संकोच वा लय को प्राप्त होते रहेंगे। सबका इसी प्रकार लय हो जाता है; फिर पुनः सृष्टि होती है। कारण से कार्य्य की उत्पत्ति होती है और फिर सब कारण में लय हो जाते हैं।

जिसे हम आजकल मैटर वा द्रव्य कहते हैं, प्राचीन सांख्य वा योगवाले उसे भूत कहते थे। उनके मतानुसार एक ही भूत है जो नित्य है; अन्य भूत उसी से उत्पन्न होते हैं। उस भूत का नाम आकाश है। वह बहुत कुछ आजकलवालों के ईथर से ही मिलता जुलता है, पर वह ठीक वैसा नहीं है। इस भूत के साथ आदि शक्ति रहती है जिसे प्राण कहते हैं। प्राण और आकाश के मेल से सारे भूतों की सृष्टि होती है। प्रलय आने पर कल्पांत में सबका लय हो जाता है और आकाश और प्राण रह जाते हैं। ऋग्वेद में एक मंत्र है जिसमें उत्तम कविता में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। प्राण था, पर गति न थी; 'आनिद्वातं' अर्थात् गति रहित, निष्कंप। जब कल्प का आरंभ होता है तब 'आनिद्वातं' में कंप उत्पन्न होता है। प्राण आकाश में आघात पर आघात करता है। अणुओं का संघात होने लगता है और अणु के योग से अन्य भूतों की सृष्टि होती है। हम देखते हैं कि लोगों ने उसका कैसा अद्भुत अनुवाद

किया है। लोग दार्शनिकों और भाष्यकारों को अनुवाद करते समय पूछते ही नहीं और न उन्हें स्वयं मस्तिष्क है। नासमझ लोग तीन अक्षर संस्कृत के पढ़ लेते हैं और लगते हैं अनुवाद करने। वे अनुवाद में भूतों को वायु, अग्नि आदि लिख मारते हैं। यदि वे भाष्यों को देखें तो जान पड़ेगा कि उनका अभिप्राय कभी वायु आदि से नहीं है।

आकाश प्राण के निरंतर आघात से वायु वा कंप को उत्पन्न करता है। वायु कंप करता है। कंप बढ़ता जाता है और संघर्ष उत्पन्न होता है जिससे ताप वा तेज की उत्पत्ति होती है। फिर इस ताप से अप वा द्रव्य की उत्पत्ति होती है। फिर वह द्रव घनत्व को प्राप्त होता है। हम ऊपर देख चुके हैं कि पहले आकाश वा ईथर था; फिर कंप हुआ, फिर ताप, फिर वह द्रव हुआ और वही घनत्व को प्राप्त हो गया। यह फिर पूर्व पूर्व दशा को प्राप्त होता हुआ लय को प्राप्त होता है। घन द्रव होता है, द्रव ताप, फिर ताप कंप हो जाता है और कंप के शांत होने पर कल्पांत आ जाता है। उस समय सब लय हो जाते हैं। फिर पुनः उत्पत्ति होती और पुनः लय होता है। आकाश के बिना प्राण कुछ कर नहीं सकता। जो हमें गति, कंप वा विचार के रूप में दिखाई पड़ता है, वह सब प्राण ही का विकार है। जो हमें भूत, द्रव्य, रूप वा अवरोध के रूप में दिखाई पड़ता है, वह आकाश का ही विकार है। प्राण अकेला रह नहीं सकता और न बिना दूसरे मध्यस्थ के काम कर सकता है। जब

वह शुद्ध प्राण रहता है, तब वह आकाश में रहता है; जब वह विकार प्राप्त होकर शक्तियों का रूप धारण करता है जैसे गुरुत्व, आकर्षण आदि, तब वह द्रव्य में रहता है। द्रव्य से पृथक् शक्ति वा शक्ति-रहित द्रव्य कभी आपके देखने में न आया होगा। जिसे हम शक्ति और द्रव्य कहते हैं, वे हैं क्या ? इसी आकाश और प्राण की अभिव्यक्ति मात्र ही तो हैं। प्राण को जीवन वा जीवन-शक्ति कहते हैं। पर प्राण शब्द को केवल प्राणी वा मनुष्य के जीवन ही तक के अर्थों में परिमित न करना चाहिए और न उसे भ्रमवश आत्मा वा जीवात्मा ही समझ लेना चाहिए। इस प्रकार यह काम होता रहता है। सृष्टि का न आदि है और न अंत; यह निरंतर होती ही रहती है।

सांख्ययोग के विद्वानों की एक और बात है अर्थात् स्थूल पदार्थ सूक्ष्म के परिणाम हैं। जो स्थूल है, वह सूक्ष्म अंशों से बना है। इन सूक्ष्म अंशों को तन्मात्रा कहते हैं। मैं एक फल सूँघता हूँ। सूँघते समय किसी वस्तु का नाक से छू जाना आवश्यक है। फल सामने है। मैं देखता हूँ, वह मेरी नाक में नहीं घुसता। जो कुछ फल से मेरी नाक तक पहुँचता है, उसे तन्मात्रा कहते हैं। वह फूल के अत्यंत सूक्ष्म अणु हैं। इसी प्रकार ताप, तेज आदि की भी तन्मात्राएँ हैं। ये तन्मात्राएँ परमाणु में विभक्त हो सकती हैं। भिन्न भिन्न दार्शनिकों के भिन्न भिन्न मत हैं और वे निरे मत ही हैं। हमें इसी से काम है कि स्थूल पदार्थ सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थों से बने हैं। पहले हमें

स्थूल भूत देख पड़ते हैं जिनका हम अपनी इंद्रियों से साक्षात् करते हैं। फिर सूक्ष्म भूत हैं जिनका संयोग आँख, कान, नाक आदि से होता है। आकाश के कंप आँखों को स्पर्श करते हैं। हम उन्हें देख नहीं सकते; पर यह हम जानते हैं कि प्रकाश दिखाई पड़ने के पहले ही हमारी आँख में कंप का स्पर्श होता है।

यह आँख है, पर आँख नहीं देखती। मस्तिष्कगत चक्षु इंद्रिय के तंतु को काट दीजिए, सामने के पदार्थों का प्रतिबिंब आँख की पुतली पर पड़ेगा, पर वे सुझाई न पड़ेंगे। आँख गोलक मात्र है। चक्षु इंद्रिय मस्तिष्क में है, जहाँ चक्षु तंतु लगा है। इसी प्रकार नाक है; उसके भीतर या परे घ्राणेंद्रिय है। ऊपर इंद्रियों के बाहरी गोलक मात्र हैं। यही इंद्रियाँ प्रत्यक्ष ज्ञान के मुख्य साधन और आधार हैं।

यह आवश्यक है कि मन इंद्रियों से संयुक्त रहे। यह नित्य के अनुभव की बात है कि जब हम पढ़ने में लगे रहते हैं, तब हमें घड़ी का बजना नहीं सुनाई पड़ता। कान तो था और शब्द मस्तिष्क में पहुँचा भी, पर फिर भी हमने सुना क्यों नहीं? कारण यह था कि मन श्रोत्रेंद्रिय से संयुक्त न था।

प्रत्येक इंद्रिय-गोलक की इंद्रियाँ अलग अलग हैं। क्योंकि यदि एक ही इंद्रिय से सबका काम चलता तो जब मन का उससे संयोग होता, तब सब इंद्रियाँ अपना अपना काम देतीं। पर ऐसा नहीं है। हम देखते हैं कि घड़ी बजी और हमने सुना,

नहीं। यदि सब गोलकों के लिये एक ही इंद्रिय होती तो मन एक समय में देख भी सकता और सुन भी सकता। एक समय में वह साथ ही देख, सुन और सूँघ सकता और उसको सब कुछ एक साथ करना असंभव न होता। अतः यह आवश्यक है कि प्रत्येक गोलक की इंद्रिय अलग अलग हो। आधुनिक मनोविज्ञान ने भी इसे स्वीकार किया है। यह संभव है कि कोई साथ ही देख और सुन दोनों सके, पर ऐसी दशा में मन दोनों इंद्रियों से कुछ कुछ युक्त रहता है।

यह इंद्रियाँ बनी किससे हैं? हम देखते हैं कि आँख, नाक, कान स्थूल द्रव्यों से बने हैं। इंद्रियाँ भी भौतिक ही हैं। जैसे शरीर स्थूल द्रव्य का है और प्राण को भिन्न भिन्न स्थूल शक्तियों में परिणत करता है, वैसे ही इंद्रियाँ भी सूक्ष्म भूतों, आकाश, वायु, तेज आदि से बनी हैं और प्राण को प्रत्यक्ष की सूक्ष्म शक्तियों के रूप में परिणत करती हैं। इंद्रियाँ, प्राण और मन-बुद्धि मिलकर सूक्ष्म शरीर कहलाते हैं, जिसे लिंग शरीर भी कहते हैं। लिंग शरीर के भी रूप होते हैं, क्योंकि सभी भौतिक पदार्थ रूपवाले हैं।

मन को ही जब वह वृत्ति-युक्त होता है, चित्त कहते हैं। यदि आप एक तालाब में कंकड़ी फेंकें तो पहले कंप उठेगा, फिर अवरोध होगा। पहले पानी में कंप उठेगा, फिर वह कंकड़ी में ठोकर खायगा। इसी प्रकार जब कोई संस्कार चित्त पर आता है, तब उसमें कुछ कंप होता है। इसीका नाम मन है।

मन संस्कार को आगे ले जाता है और उसे व्यवसायात्मिका शक्ति बुद्धि को दे देता है। वहाँ वेदना उत्पन्न होती है। बुद्धि के परे अहंकार है जिसमें "मैं हूँ" का बोध उत्पन्न होता है। अहंकार से परे महत् है जो प्रकृति का अति सूक्ष्म रूप है। पूर्व पूर्व उत्तरोत्तर के कार्य्य हैं। तालाब में तो बाहर से ही आघात पहुँचते हैं, पर मन में बाह्य और आभ्यंतर दोनों ओर से आघात पहुँचते हैं। महत् के परे मनुष्य की आत्मा है जिसे पुरुष कहते हैं। यह शुद्ध, पूर्ण, निःशंक और द्रष्टा है और ये सब परिवर्तन उसी के लिये हैं।

मनुष्य इन सब परिणामों वा विकारों को देखता है; पर वह अशुद्ध नहीं है और उसमें दोष अध्यास के कारण है। वेदांत में प्रतिबिंब को अध्यास कहते हैं। यह अध्यास वैसे ही है जैसे शुद्ध स्फटिक के सामने रक्त वा नील रंग का फल दिखाया जाय तो उसका प्रतिबिंब स्फटिक में भासमान होगा। हम इसे मान लेते हैं कि अनेक आत्माएँ हैं और सब पूर्ण और शुद्ध हैं। उनके ऊपर वर्ण वर्ण के सूक्ष्म द्रव्यों का आवरण वा आभा पड़ती है और वे नाना वर्ण के जान पड़ने लगते हैं। प्रकृति ऐसा क्यों करती है? प्रकृति इतने रूप केवल आत्मा की उन्नति के लिये धारण कर रही है; सारी सृष्टि आत्मा की भलाई के लिये है कि वह मुक्त हो जाय। यह वृहत् पुस्तक जो विश्व कहलाती है, मनुष्य के सामने खुली पड़ी है कि वह उसे पढ़े; और अंत को उसे इसका ज्ञान हो जाता है

कि वह सर्वव्यापी और सर्वांतरयामी है। मैं यहाँ आपको यह बतला देना उचित समझता हूँ कि हमारे कितने ही दार्शनिक ईश्वर को वैसा नहीं मानते हैं जैसा आप लोग मानते हैं। सांख्यदर्शन के प्रवर्तक कपिलाचार्य्य ईश्वर की सत्ता ही को नहीं मानते। उनका मत है कि पुरुष विशेष वा व्यक्तिगत ईश्वर का भाव नितांत निष्प्रयोजन है। प्रकृति स्वयं सारी सृष्टि रच सकती है। जिसे कर्तृत्वधर्म कहते हैं, उसकी उन्होंने जड़ उखाड़ दी और कह दिया कि बच्चों की सी इन बातों से कोई लाभ नहीं है। पर वह एक अद्भुत प्रकार के ईश्वर को मानते हैं। उनका कथन है कि हम सब मोक्ष के लिये प्रयास कर रहे हैं और जब हम मुक्त हो जाते हैं, तब हम प्रकृति में मानो मिल जाते हैं और कल्पादि में प्रकट होते और शासन करते हैं। हम सर्वव्यापी और सर्वांतरयामी के रूप में प्रकट होते हैं। उस अर्थ में हम देवता कहलाते हैं। आप और मैं और साधारण प्राणी देवता हो सकते हैं। उनका कथन है कि ऐसे देवता क्षणिक हुआ करते हैं; पर ऐसा शाश्वत ईश्वर कोई हो ही नहीं सकता जो इस विश्व का नित्य और सर्वशक्तिमान् शासक हो। यदि कोई ऐसा ईश्वर हो भी तो यह कठिनाई आ पड़ेगी कि वह या तो बद्ध होगा या मुक्त। जो मुक्त है, वह सृष्टि ही न करेगा, उसको कोई आवश्यकता ही नहीं है। जो बद्ध है वह भी सृष्टि नहीं कर सकता; उसमें शक्ति ही नहीं है। दोनों दशाओं में कोई सर्वांतरयामी और सर्वशक्तिमान् शासक नहीं हो सकता।

हमारे ग्रंथों में जहाँ जहाँ ईश्वर शब्द वा देवता शब्द आता है, वहाँ कपिल कहते हैं कि ऐसे ही मुक्त प्राणियों के अर्थ में आता है।

कपिल का विश्वास कभी आत्मा की एकता पर नहीं था। उनका अन्वेषण सचमुच लोकोत्तर ही था। वे भारतीय दार्शनिकों में आदि दार्शनिक ऋषि कहलाते हैं। बौद्ध धर्म आदि उन्हीं के विचार के फल हैं।

सांख्यशास्त्रानुसार आत्मा अपने मुक्त स्वभाव और अपने अन्य सर्वशक्तिमत्व, सर्वज्ञत्वादि गुणों को प्राप्त कर सकती है। पर प्रश्न यह उठता है कि बंधन कहाँ से आता है। कपिल कहता है कि इसका आदि नहीं है। पर यदि यह अनादि है, तो अनंत भी होगी और हमें मुक्ति का लाभ न होगा। वह कहता है कि यद्यपि बंधन अनादि है, पर यह आत्मा का नित्य धर्म नहीं है। दूसरे शब्दों में प्रकृति (बंधन का कारण) अनादि और अनंत है, पर उस अर्थ में नहीं जिसमें आत्मा है; क्योंकि प्रकृति का कोई व्यक्तित्व वा रूप नहीं है। वह नदी के समान है जिसमें पानी का प्रवाह नित्य चला करता है। उसी प्रवाह को नदी कहते हैं; पर नदी कोई नित्य या स्थायी वस्तु नहीं है। प्रकृति में सब विकारवान् हैं। पर आत्मा निर्विकार है। प्रकृति में सदा विकार होता रहता है। संभव है कि आत्मा उसके बंधन से मुक्त हो जाय।

समस्त विश्व का रचना-क्रम वही है जो इसके अंश का

है। जैसे हमारे मन है, वैसे विश्व को भी मन है; जैसे व्यक्ति में है वैसे ही समष्टि में। विश्व का भी एक पिंड है। उस पिंड के परे मन है, उसके परे अहंकार, उसके परे महत्तत्व। और यह सब प्रकृति में है। प्रकृति में अभिव्यक्तियाँ हैं, बाहर नहीं।

हमारा जो स्थूल शरीर है, वह हमारे पिता से है। वैसे ही मन भी है। हमारा नितांत पैतृक शरीर पिता से है और हमारे मन और अहंकार भी पिता के ही अंश हैं। हम अपने पिता से पाए हुए अंश में विश्व के मन से कुछ अंश लेकर बढ़ा देते हैं। महत्तत्व का अघट भांडार है; उसी से हम जितना हो सकता है, अपने काम भर के लिये ले लेते हैं। विश्व में आध्यात्मिक शक्ति का अघट भांडार है। उसी से हम नित्य लिया करते हैं; पर बीज हमारे पिता के शरीर से हममें आया है।

हमारा सिद्धांत यह है कि पैतृकदाय के साथ पुनर्जन्म भी मिला है। पुनर्जन्म के नियमानुसार जन्म लेनेवाले जीवात्मा को अपने पिता माता से अपने शरीर की सामग्री मिलती है।

युरोप के कुछ दार्शनिकों का विचार है कि यह विश्व इस कारण है कि "मैं हूँ"। यदि मैं न होता तो विश्व कहाँ था? इसी बात को कभी कभी इस प्रकार भी कहते हैं कि यदि संसार के सब मनुष्य मर जायँ तो मनुष्य फिर न रहेंगे। कोई ऐसा प्राणी न रह जायगा जो उनको समझ-बूझ सके। फिर सब सृष्टि का लोप हो जायगा। पर युरोप के इन दार्शनिकों को इसके रहस्य का ज्ञान नहीं है, वे सिद्धांत को भले ही जाना

करें। आधुनिक विज्ञान को इसकी झलक भर मिली है। इसका समझना उस समय सहज हो जाता है जब इसे सांख्य की दृष्टि से देखा जाय। सांख्यदर्शन के अनुसार कोई वस्तु तब तक हो नहीं सकती जब तक उसमें हमारे मन का कुछ अंश सम्मिलित न हो। मैं इस मेज को कि यह कैसी है, नहीं जान सकता। इसका संस्कार मेरी आँखों पर पड़ता है, फिर इंद्रिय से होकर मन पर; फिर मन में वेदना होती है। इसी वेदना को हम मेज बतलाते हैं। यह वैसे ही है जैसे तालाव में कंकड़ी का फेंकना। तालाब लहर को कंकड़ी पर फेंकता है और इसी से लहर का हमको ज्ञान होता है। बाहर क्या है, कोई नहीं जानता। जब हम उसे जानना चाहते हैं तब वही हो जाता है जो हम काम में लाते हैं। मैंने अपने मन से आँखों में वह सामग्री दी है। बाहर कुछ पड़ा है। उसी पर मैं अपने मन को डालता हूँ और उसी का वह रूप हो जाता है जो मुझे दिखाई पड़ता है। तो फिर सबको एक ही प्रकार से क्यों दिखाई पड़ता है? कारण यह है हम सबमें एक ही प्रकार से विश्व के मन का अंश है। जिनके मन एक प्रकार के होते हैं, उन्हें सब एक ही प्रकार के दिखाई पड़ते हैं। जिनके मन एक प्रकार के नहीं हैं, उनको वैसे न देख पड़ेंगे।

—:०:—

# (२६) सांख्य-दर्शन ।

सांख्यशास्त्र के विद्वान् प्रकृति को जड़ कहते हैं और गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति का लक्षण बतलाते हैं। यह स्वभाव-सिद्ध है कि साम्यावस्था गति हो ही नहीं सकती । प्रारंभिक अवस्था में किसी प्रकार की गति नहीं होती, पर नितांत साम्यावस्था रहती है । प्रकृति तब निर्विकार रहती है; क्योंकि विकार वा नाश तो तब होता है, जब वह चल और परिणाम को प्राप्त होती है। सांख्य के अनुसार अणु आदि में नहीं होते। इस विश्व की सृष्टि अणु से नहीं होती; अणु तो द्वितीय वा तृतीय विकार दशा में उत्पन्न होते हैं। आधुनिक ईथर के सिद्धांत के संबंध में यदि आप ईथर को अणुवाला मानें तो उससे कुछ काम न चलेगा। इसकी व्याख्या अधिक स्पष्ट शब्दों में यह है। मान लीजिए कि वायु में अणु हैं और हम यह भी हम जानते हैं कि ईथर सब जगह व्याप्त और भरपूर है और वायु के अणु उसी ईथर में हैं और उसी पर तैरते हैं। अब यदि ईश्वर भी अणुवाला हो तो ईथर के दो अणुओं के बीच अवकाश रह जायगा । फिर उस अवकाश में क्या रहेगा ? यदि आप इसके लिये किसी और सूक्ष्म ईथर को मानें तो उस सूक्ष्म ईथर के अणुओं के मध्य के अवकाश में रहने के लिये किसी और ईथर की आवश्यकता पड़ेगी; और अंत को पारावार न रहेगा और अनवस्था दोष आवेगा । सांख्य में इसे अकारण

कहते हैं। अतः अणुवाद सर्वतंत्र सिद्धांत नहीं हो सकता। सांख्य के अनुसार प्रकृति सर्वगत है। उसी प्रकृति में सारे जगत् का कारण है। कारण क्या है? व्यक्तावस्था की सूक्ष्म वा अव्यक्तावस्था वा ईषद् व्यक्तावस्था—वही व्यक्त का सूक्ष्म से सूक्ष्म होना। नाश किसका नाम है? कारण में लय होने का। आपके पास एक ठीकरा है। उसे पटक दीजिए, चूर चूर हो जायगा। उसका नाश हो जायगा। इसका आशय यही है कि कारण अपना रूप धारण कर लेगा। वह पदार्थ जिससे वह बर्तन बना था, अपने वास्तविक रूप को धारण कर लेगा। इस भाव के अतिरिक्त नाश का यह आशय कि शून्य हो जाना, हो ही नहीं सकता। पदार्थों का शून्य हो जाना नितांत असंभव है। आधुनिक भौतिक विज्ञान से यह सिद्ध हो सकता है कि कपिल ने जो नाश का यह अर्थ किया कि 'नाशः कारणलयः' ठीक है। नाश का अर्थ है सूक्ष्म होकर कारण में लय हो जाना। आप जानते हैं कि द्रव्य की नित्यता को प्रयोगशाला में किस प्रकार प्रत्यक्ष करके दिखलाते हैं। आजकल ज्ञान के युग में यदि कोई यह कहे कि प्रकृति वा पुरुष वा आत्मा शून्य हो सकती है तो उस पर लोग हँसेंगे। केवल अशिक्षित और मूर्ख लोग ऐसी बातें करते हैं। यह आश्चर्य्य की बात है कि आधुनिक विज्ञान से उन बातों की सिद्धि होती है जिनकी शिक्षा प्राचीनों ने दी थी। वह अवश्य वैसा ही है और यही उसकी सत्यता का प्रमाण है। उन लोगों ने मन को आधार मानकर

जिज्ञासा आरंभ की; इस विश्व के मानसिक अंश की छानबीन की और उनको जो निश्चय हुआ, वही हमें बाह्य अंश की छानबीन से हुआ। कारण यह है कि दोनों मार्ग एक ही स्थान पर पहुँचने के हैं।

आप जानते हैं कि विश्वविधान के संबंध में प्रकृति का आदि विकार महत्तत्व है। यही प्रकृति की पहली विकृति है। इसे स्वयं चेतन मत समझो, यह ठीक नहीं है। चित् महत् का एक अंश मात्र है। महत् व्यापक है। इसमें चित्, अतिचित् और उपचित् सभी आ जाते हैं। चित् की कोई अवस्था विशेष मानना ठीक नहीं है। प्रकृति में आपको अपनी आँखों के सामने कुछ विकार दिखाई पड़ते हैं और आप उन्हें देखकर यह जानते हैं कि यह विकार है। पर अन्य कितने ही ऐसे विकार हैं जिन्हें हम इंद्रियों द्वारा ग्रहण नहीं कर सकते। वे बहुत सूक्ष्म हैं। पर उनका कारण वही है। महत्तत्व ही इन विकारों का कारण है। महत्तत्व से ही अहंकार उत्पन्न होता है। यह सब पदार्थ हैं। द्रव्य और मन में कोई अंतर नहीं है, केवल मात्रा ही का अंतर है। पदार्थ एक ही है, कहीं सूक्ष्म कहीं स्थूल; एक ही बदलकर दूसरा हो जाता है। यह आजकल के भौतिक विज्ञानवादियों के मत से मिलता भी है। इस सिद्धांत पर विश्वास करके कि मन मस्तिष्क से पृथक् नहीं है, आगे के झगड़ों से छुट्टी मिल जाती है। अहंकार से विकार द्वारा दो भेद होते हैं। एक से इंद्रियाँ उत्पन्न होती हैं। इंद्रियाँ दो

प्रकार की है—कर्मेंद्रिय और ज्ञानेंद्रिय। आँख, कान, नाक आदि इंद्रियाँ नहीं हैं, बल्कि उनके पट हैं जिन्हें आजकल के लोग मस्तिष्क का केंद्र वा नाड़ीकेंद्र कहते हैं। इसी अहंकार के विकार से इंद्रियों वा केंद्रों की सृष्टि होती है। उसी अहंकार का दूसरा एक और विकार है जिसे तन्मात्रा कहते हैं। वे भूत के अत्यंत सूक्ष्म अंश हैं। वे इंद्रिय गोलक में स्पर्श करते हैं और तब हमें विषयों का साक्षात् और ज्ञान होता है। आप उन्हें साक्षात् नहीं कर सकते, पर आपको उनके होने का ज्ञान हो सकता है। इन्हीं तन्मात्राओं से स्थूल भूतों की सृष्टि होती है। वे भूत पृथ्वी, जल इत्यादि हैं, जिनको देख-छू सकते हैं। मैं आपको यह बतला देना चाहता हूँ कि उनका ग्रहण करना अति कठिन है। कारण यह है कि पश्चिम के देशों में मन और भूतों के संबंध में विलक्षण विचार है। उन विचारों को मस्तिष्क से निकालना कठिन है। मुझे भी इसके लिये बड़ी कठिनाई उठानी पड़ी है; क्योंकि मुझे भी पहले पाश्चात्य दर्शन की ही शिक्षा मिली थी। यह सब विश्वविधान की चीजें हैं। इस प्रकृति के विश्वव्यापी प्रसार को देखिए जो अविच्छिन्न, अव्यक्त रूप से सर्वतोव्यक्त थी। वह सबकी पूर्वावस्था है जो उसी प्रकार विकार को प्राप्त होती है जैसे दूध जमकर दही हो जाता है। उस प्रकृति का पहला विकार महत् है। वही महत् स्थूल हो जाता है; फिर उसी को अहंकार कहते हैं। तीसरा विकार इंद्रिय और वे सूक्ष्म तन्मात्राएँ हैं जिनसे हम

आँख से देखते, कान से सुनते, नाक से सूँघते, जीभ से चखते और हाथों से छूते हैं । यही मिलकर स्थूल होकर अंत को विश्व का रूप धारण कर लेते हैं। सांख्यदर्शन के अनुसार यही विश्व-विधान की परिक्रिया है । जो प्रकृति में है, वही सूक्ष्म विश्व में है। एक मनुष्य को ले लीजिए। उसमें पहले अव्यक्त है; वही प्राकृतिक पदार्थ उसमें महत् का रूप धारण कर लेता है। फिर महत् अहंकार हो जाता है; फिर इंद्रियाँ; यही सूक्ष्म अणु मिलकर शरीर के कारण होते हैं। मैं इसे और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। यही सांख्य का मूल सिद्धांत है। मैं इसे अच्छी तरह समझा देना चाहता हूँ, कारण यह है कि यही संसार भर के दर्शनों का आधार है। संसार में कोई दर्शन ऐसा नहीं है जिसने कुछ न कुछ कपिल से न लिया हो। पैथागोरस भारतवर्ष में आया था और उसने इस दर्शन का अध्ययन किया था। वही यूनान के दर्शन का आरंभ वा मूल था। इसके पीछे सिकंदरिया के दर्शन का आरंभ हुआ। उसके पीछे विज्ञानवाद की उत्पत्ति हुई। दर्शन के दो भाग हो गए। एक युरोप और सिकंदरिया को गया; दूसरा भारत में रह गया जिस से व्यास के दर्शन का विकास हुआ। संसार में कपिल का सांख्यदर्शन सबसे आदिम और युक्तियुक्त शास्त्र है। सारे अध्यात्मवादियों को भगवान् कपिल को नमस्कार करना चाहिए। मैं आपसे यही कहता हूँ कि हमें उस दर्शन शास्त्र के आदि आचार्य्य की बातें सुननी चाहिएँ। श्रुति में उस

अद्भुत और आदि दार्शनिक का नाम आया है। 'ऋषिप्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे' उसके ज्ञान कैसे आश्चर्यजनक थे। यदि योगियों के अलौकिक बल के प्रमाण की आवश्यकता है, तो ऐसे ही लोग प्रमाण हैं। उनके पास कोई दूरदर्शक या सूक्ष्मदर्शक यंत्र नहीं थे। पर उनकी दृष्टि कितनी सूक्ष्म थी और उनकी छानबीन कितनी ठीक और आश्चर्यजनक थी!

मैं अब यह दिखलाऊँगा कि शोपनहार और भारतवर्ष के दार्शनिकों के मत में क्या अंतर है। शोपनहार कहता है कि इच्छा ही सबका कारण है। हम इच्छा ही के कारण व्यक्त होते हैं; पर हम इसे नहीं स्वीकार करते। इच्छा तो कर्मतंतु का समानार्थक है। जब हम किसी पदार्थ को देखते हैं, तब इच्छा नहीं होती। जब हमारे मस्तिष्क में संस्कार पहुँचता है, तब वेदना होती है और यह निश्चय होता है कि यह करो, यह न करो। अहंकार की इसी दशा का नाम इच्छा है। कोई इच्छा बिना वेदना के नहीं होती। इच्छा के पूर्व कितनी बातें हो चुकती हैं। यह अहंकार से उत्पन्न होती है और अहंकार महत्तत्व का विकार है; और महत्तत्व प्रकृति का विकार है। यह बौद्धों का विचार है कि जो कुछ हम देखते हैं, इच्छा वा चैतसिक है। यह मनोविज्ञान की दृष्टि से असंगत है, क्योंकि इच्छा कर्मतंतु मात्र है। यदि आप कर्मतंतु को निकाल डालें तो मनुष्य में इच्छा होगी ही नहीं। इस बात का निश्चय क्षुद्र जंतुओं के ऊपर परीक्षा द्वारा हो चुका है।

अब हम यह प्रश्न लेते हैं कि मनुष्य महत् कैसे है। इसका समझना अत्यंत आवश्यक है। यह महत् ही अहंकार हो जाता है; यही शरीर में बल का कारण है। यह चित्, अतिचित् और उपचित् में व्याप्त है। यह तीनों अवस्थाएँ हैं क्या? उपचित् पशुओं में पाया जाता है जिसे सहज ज्ञान कहते हैं। यह अचूक होता है, पर अत्यंत परिमित होता है। सहज ज्ञान बहुत कम चूक करता है। पशु अपने सहज ज्ञान से विषैले पौधों को पहचानते हैं वा जान जाते हैं। पर उनका सहज ज्ञान बहुत स्वल्प होता है। ज्यों ही कोई नया पदार्थ सामने आ जाता है, पशु चकरा जाता है। वह कल के समान काम करता रहता है। इसके परे ऊँचे प्रकार का ज्ञान आता है। इसमें चूक होती है और वह प्रायः भूल किया करता है। इसका क्षेत्र विस्तृत और गति धीमी होती है। इसे बुद्धि वा तर्क कहते हैं। यह सहज ज्ञान से कहीं बड़ी होती है; पर सहज ज्ञान बुद्धि की अपेक्षा अधिक निश्चायक होता है। बुद्धि से सहज ज्ञान की अपेक्षा अधिक भूल होने की संभावना है। मन की एक और ऊँची अवस्था है जिसे अतिचित् कहते हैं। यह योगियों में और उनमें होती है जो लोग इसे प्राप्त करते हैं। यह अचूक होती है और इसका क्षेत्र बुद्धि से कहीं अधिक विस्तृत होता है। यही उसकी सर्वोच्च दशा है। अतः हमें स्मरण रखना चाहिए कि महत्तत्व ही सबका कारण है। वही भिन्न भिन्न रूपों में अभिव्यक्त होता है और ज्ञान के तीनों

प्रकार के भेदों में अर्थात् चित्, अतिचित् और उपचित् में व्याप्त है।

अब एक और सूक्ष्म प्रश्न आता है जो प्रायः पूछा जाता है। वह यह है कि यदि किसी पूर्ण ईश्वर ने इस विश्व को रचा है तो फिर इसमें अपूर्णता क्यों है? जिसे हम विश्व कहते हैं, वह उतना ही मात्र है जो हमें दिखाई पड़ता है। इसके आगे क्या है, हम देख नहीं सकते। अब यही प्रश्न असंभव हो जाता है। यदि हम किसी वस्तु के एक अंश को लेकर देखें तो वह हमें विषम जान पड़ेगा। बहुत ठीक। विश्व हमें विषम जान पड़ता है, क्योंकि हम उसे विषम बना देते हैं। कैसे? प्रमाण क्या है? पहले यह तो विचारिए कि ज्ञान कहते किसे हैं? किसी वस्तु को उसी प्रकार की वस्तु से मिलाने का नाम ज्ञान है। आप सड़क पर जाते हैं और एक मनुष्य को देखकर कहते हैं कि हाँ यह मनुष्य ही है; कारण यही है कि आप अपने उस संस्कार को जो आपके चित्त पर है, स्मरण करते हैं। आपने अनेक मनुष्यों को देखा है और प्रत्येक मनुष्य का संस्कार आपके चित्त पर बना है। ज्यों ही आप उसे देखते हैं, आप उसे अपने भांडार के संस्कारों से मिलाते हैं; और यदि वैसा ही चित्र वा संस्कार मिल जाता है तो आपका संतोष हो जाता है। आप उसे उसी के साथ लगाकर रख देते हैं। जब नया संस्कार आता है और उसी का तद्रूप संस्कार मिल जाता है, तब आपको संतोष हो जाता है और इसी मिलान को ज्ञान कहते हैं। एक

अनुभव का पूर्व के अनुभवों से मिलान करने को ज्ञान कहते हैं और यह इसके लिये एक बड़ा प्रमाण है कि बिना पूर्व अनुभव के ज्ञान नहीं। यदि आपमें अनुभव नहीं है और आपका चित्त संस्कार-रहित है तो आपको कोई ज्ञान हो ही नहीं सकता; क्योंकि ज्ञान तभी होता है जब भीतर मिलाने के लिये कुछ संस्कार होता है। नए संस्कार को मिलाने के लिये भीतर संस्कारों का संग्रह होना चाहिए। मान लीजिए, कोई लड़का ऐसा उत्पन्न हो जिसके पास संचित संस्कार नहीं; तो उसको ज्ञान होना असंभव है। अतः बच्चे के पास पहले से संचित ज्ञान था जो बढ़ता जा रहा है। इस तर्क का निरसन करने के लिये आप कोई मार्ग बतलाइए। यह गणित की बात है। कितने यूरोपीय दर्शनों में भी यह बात मानी गई है कि बिना पूर्व के ज्ञान भांडार के ज्ञान हो ही नहीं सकता। उन लोगों ने यह विचार निर्धारित किया है कि बालक ज्ञान लेकर उत्पन्न होता है। युरोप के विद्वानों का कथन है कि बच्चे का पूर्व ज्ञान उसके पूर्व जन्मों के कारण नहीं है, अपितु उसके माता पिता के अनुभव का ही फल है; यह दाय स्वरूप है जो पिता पितामह आदि से आता है। उन्हें बहुत ही शीघ्र यह जान पड़ेगा कि यह विचार नितांत मिथ्या है। जर्मन के कई दार्शनिक इस दाय के सिद्धांत का घोर खंडन कर रहे हैं। दाय की बात है तो अच्छी, पर अपर्य्याप्त वा अधूरी है। इससे केवल भौतिक अंश का काम चलता है। आप इससे उस संसर्ग का जिसमें हम हैं, क्या

समाधान कर सकते हैं ? अनेक कारणों से कार्य्य की उत्पत्ति होती है। संसर्ग को तो एक प्रकार का कार्य्यों का संपादक ही कहना पड़ेगा। हम अपने संसर्ग के आप ही कारण होते हैं। जैसा हमारे पूर्व का संसर्ग होता है, वैसा ही हमारा वर्तमान संसर्ग भी होता है। मद्यप स्वभावतः नगर की निकृष्ट गलियों में गिरते हैं।

आप समझते हैं कि ज्ञान क्या पदार्थ है। ज्ञान कहते हैं नए संस्कारों को पुराने संस्कारों के साथ मिलाकर रखने को, उन्हींसे मिलाकर उसे पहचानने को। पहचान किसका नाम है ? पूर्व के संचित संस्कारों से नए को मिलाकर देखने को कि वह तद्रूप है वा नहीं। अब यदि ज्ञान पूर्व संचित संस्कारों से नए संस्कार को मिलाने ही का नाम है तो इसका यही अर्थ है कि उस प्रकार के एक एक संस्कार को उलट उलटकर देखना। क्या यह ठीक नहीं है ? मान लीजिए कि आप एक कंकड़ी उठाते हैं। उसे मिलाने के लिये आपको वैसी ही सब कंकड़ियों को उठाकर देखना पड़ेगा। विश्व के प्रत्यक्ष के संबंध में हम ऐसा कर ही नहीं सकते; क्योंकि हमारे मन के भांडार में इस प्रकार का केवल एक ही चित्र है; दूसरा कोई वैसा प्रत्यक्ष ज्ञान है ही नहीं जिससे हम उसे मिला सकें। हम उसे और तद्रूप संस्कार के साथ मिला नहीं सकते। यह विश्व हमारे चित्त से बाहर है, अत्यंत अद्भुत और अनोखा है। इसके जोड़ का भीतर कोई है ही नहीं। मिलावें तो

किससे मिलावें ? यही कारण है कि हम इसके पीछे सिर खपा रहे हैं, इसे भयानक समझ रहे हैं, भला-बुरा कह रहे हैं। कभी कभी हम इसे अच्छा समझते हैं, पर हम इसे सदा अधूरा समझते हैं। इसका ज्ञान तभी हो सकता है जब इसके जोड़ का कोई दूसरा मिले। हम इसे तभी जानेंगे जब हम विश्व और चित्त दोनों से परे निकल जायँ; तभी विश्व के रहस्य का पता चलेगा। जब तक हम ऐसा न करें, हमारा दीवार पर सारा सिर पटकना निरर्थक है; क्योंकि बिना तद्रूप संस्कार के ज्ञान हो नहीं सकता और इस लोक में केवल ऐसा एक ही प्रत्यक्ष ज्ञान है। ऐसा ही ईश्वर के संबंध का भी विचार है। जो कुछ हम ईश्वर के संबंध में देखते हैं, वह एक अंश मात्र है। हमें विश्व के एक अंश मात्र का ही बोध होता है; शेष मनुष्य की पहुँच के बाहर है। 'मैं विश्वात्मा इतना बड़ा हूँ कि यह विश्व मेरा एक अंश मात्र है'। यही कारण है कि हमें ईश्वर पूर्ण रूप से दिखाई नहीं पड़ता और हम उसे जान नहीं सकते। ईश्वर या विश्व के जानने का यही एक उपाय है कि हम बुद्धि और चित्त से परे हो जायँ। जब आप श्रोत्र और श्रोतव्य, ज्ञान और ज्ञातव्य से परे हो जायँगे, तभी आप सत्य को जान सकेंगे। 'त्रैगुण्य विषया वेदाः निस्त्रै गुण्यो-भवार्जुन।' जब हम उनसे मुक्त हो जायँगे, तभी हममें सम-दर्शिता आवेगी, अन्यथा नहीं।

सूक्ष्म और स्थूल जगत् का संघटन एक ही प्रकार का है।

सूक्ष्म जगत् में हमें एक अंश का ज्ञान होता है, केवल उसके मध्य का। हमें न तो उपचित् का न अतिचित् का ज्ञान होता है; अर्थात् न हममें सहज बुद्धि रहती है न अवभास रहता है। हममें चित् मात्र रहता है। यदि कोई यह कहता है कि मैं पापी हूँ तो वह झूठ कहता है, क्योंकि उसे अपना ज्ञान नहीं है। वह महा अज्ञानी है; उसे अपने एक अंश का ज्ञान है, क्योंकि वह उतना ही जानता है जितने में वह है। यही दशा विश्व के ज्ञान की भी है। यह संभव है कि बुद्धि से केवल उसके एक अंश को हम जान सकें, पर समस्त को नहीं जान सकते। कारण यह है कि विश्व सहजबोध, चित् वा विवेक, अवभास तथा व्यक्तिगत और विश्वगत महत् से बना है।

प्रकृति में विकार कौन उत्पन्न करता है? हम जहाँ तक देखते हैं, प्रकृति जड़ है। यह सब संयोगज तथा जड़ है। जहाँ तक नियम है, वहाँ तक अचेतन है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, इच्छा इत्यादि सब कुछ जड़ ही हैं। पर सब में किसी और का प्रतिबिंब चित् रूप में पड़ता है जिसे सांख्य में पुरुष कहते हैं। पुरुष ही इन सारे विकारों का इच्छारहित कारण है। अर्थात् वही पुरुष, जब उसे विश्व की दृष्टि से देखें तो, ईश्वर कहा जाता है। इसी लिये कहा जाता है कि भगवदिच्छा से ही सृष्टि होती है। यह कहने के लिये तो ठीक है, पर हम देखते हैं कि यह यथार्थ में ठीक नहीं है। यह हो कैसे सकता है। इच्छा तो प्रकृति का तीसरा वा चौथा विकार है। इसके पहले

बहुत कुछ था; उसे किसने उत्पन्न किया ? इच्छा इत्यादि सब संयोगज और प्रकृति के विकार मात्र हैं । इच्छा से प्रकृति की उत्पत्ति नहीं हो सकती। केवल इच्छा निरर्थक है। अतः यह कहना कि भगवदिच्छा से सृष्टि हुई, निरर्थक है। यह चेतनता के एक अंश मात्र को घेरती है और हमारे मस्तिष्क में गति करती है। यह इच्छा नहीं है जो हमारे शरीर में काम कर रही है, विश्व में काम कर रही है । विश्व इच्छा से नहीं चलता। यही कारण है कि इच्छा से सृष्टि का समाधान नहीं होता । थोड़ी देर के लिये मान लीजिए कि इच्छा ही शरीर को चलाती है। हम देखते हैं कि हम अपनी इच्छा से काम नहीं कर सकते। फिर हमारा क्षय क्यों होता है ? यह हमारा दोष है। हमें इच्छा को मानने का कोई अधिकार नहीं है। वैसे ही यह भी हमारा ही दोष है कि हम इच्छा को विश्व का संचालक मानते हैं; और आगे चलकर देखते हैं कि उससे काम नहीं चलता । अतः पुरुष इच्छा नहीं है, न वह महत् है; क्योंकि महत् स्वयं विकार है। बिना मस्तिष्क में कुछ द्रव्य हुए महत् होता ही नहीं। जहाँ महत् है, वहाँ कुछ उसी प्रकार का द्रव्य रहता है, जिसके पिंड को मस्तिष्क कहते हैं। जहाँ महत् है, वहाँ वह किसी न किसी रूप में अवश्य रहता है। पर महत् संयोगज विकार है। अब यह पुरुष क्या है ? न यह महत् है, न इच्छा है, पर उन दोनों का कारण है। उसके रहने के कारण उनमें गति और विकार होता है। वह

प्रकृति से मिलता नहीं। वह महत् नहीं है, अपितु असंग है। मैं साक्षी हूँ और मेरे साक्षी होने से प्रकृति जड़ और चेतन सबको उत्पन्न करती है।

पर प्रकृति में यह चेतनता क्या है? हम देखते हैं कि महत् ही चेतनता है, जिसे चित् कहते हैं। इस चेतनता का कारण पुरुष ही है, पुरुष का यह धर्म है। यह वह है जो अनिर्वचनीय है, पर सारे ज्ञान का कारण वही है। पुरुष चेतनता नहीं है, चेतनता संयोगज है। पर चेतनता में जो प्रकाश और अच्छापन है, वह पुरुष ही का है। चेतनता पुरुष में है, पर पुरुष चेतन नहीं है, ज्ञाता नहीं है; पुरुष में चित्त प्रकृति के कारण है जो चारों ओर दिखाई देती है। विश्व में जो आनंद और प्रकाश है, वह पुरुष के कारण है। पर वह है संयोगज। पुरुष के साथ प्रकृति भी मिली रहती है। जहाँ जहाँ कुछ आनंद है, वहाँ वहाँ वह उसी अमृतत्व की चिनगारी वा अंश है जिसे ईश्वर कहते हैं। पुरुष विश्व का प्रधान आकर्षण करनेवाला है। वह विश्व से अलग भले ही हो, पर समस्त विश्व को आकर्षण करनेवाला है। आप देखते हैं कि लोग स्वर्ण की चिंता में भटकते हैं। कारण यही है कि उसमें पुरुष का एक अंश है, उसमें बहुत सी मैल भले ही क्यों न मिली हो। जब कोई अपने बाल-बच्चों से प्रेम करता है, तब उसे कौन आकर्षित करता है? उनकी आड़ में पुरुष ही आकर्षित करता है। वहाँ वह मैल से आवृत्त है। दूसरा कौन आकर्षण कर सकता है? इस जड़ जगत् में

एक पुरुष हीं चेतन है। यही सांख्य का पुरुष है। इससे निश्चय रूप से सिद्ध होता है कि पुरुष सर्वगत है। जो सर्वगत नहीं, वह बद्ध होता है। सब बंधन कारण से होते हैं। जो किसी कारण से होता है, उसका आदि और अंत भी होता है। यदि पुरुष बद्ध है तो उसका नाश है, वह मुक्त नहीं, वह निर्विकार नहीं; पर कुछ उसका हेतु है, अतः वह सर्वगत है। कपिल अनेक पुरुष को मानते हैं—एक नहीं अनंत संख्यक। आप एक हैं, मैं एक हूँ, इसी प्रकार सब एक एक हैं। अनंत संख्यक वृत्त, सब अनंत और विश्व भर में व्याप्त हैं। पुरुष न तो मन है न प्रकृति, पर उसी का प्रतिबिंब है; उसी से हमें बोध होता है। हम जानते हैं कि वह सर्वगत है और आदि-अंत रहित। न उसका जन्म है न मरण। प्रकृति उस पर अपना आवरण डालती रहती है; वही जन्म और मरण है। पर वह स्वभाव से शुद्ध है। यहाँ तक हमें सांख्य दर्शन के विचार अपूर्व जान पड़ते हैं।

अब हम इसके विरुद्ध प्रमाण को लेते हैं। यहाँ तक तो ठीक छान बीन है, सांख्य अखंडनीय है। हम देखते हैं कि इंद्रियों के गोलक और इंद्रिय के विभाग से जान पड़ता है कि वे असंग नहीं हैं, अपितु संयोगज हैं; और इंद्रिय और तन्मात्रा के विभाग से अहंकार भी प्रकृति का ही विकार जान पड़ता है; महत् भी प्रकृति का विकार मात्र है और अंत को हमें पुरुष मिलता है। यहाँ तक तो कोई आपत्ति नहीं है। पर हम सांख्य

से यह प्रश्न करते हैं कि प्रकृति को उत्पन्न किसने किया? सांख्य कहता है कि पुरुष और प्रकृति नित्य और सर्वगत या व्यापक हैं और असंख्य पुरुष हैं। हमें इस सिद्धांत का खंडन करना चाहिए और इससे अच्छा समाधान करना चाहिए। इस प्रकार हम अद्वैतवाद पर पहुँच जायँगे। हमारी पहली आपत्ति यह है कि दो अनंत हो कैसे सकते हैं। फिर हमारा यह कथन है कि सांख्य का ज्ञान ठीक नहीं है। हमें उससे ठीक समाधान पाने की आशा न करनी चाहिए। हमें तो यह देखना चाहिए कि वेदांती लोग किस प्रकार इस कठिनता को दूर करके पक्का समाधान करते हैं। पर फिर भी यश सांख्य ही के भाग्य में है। जब मकान बन जाय, तब उस पर चूना कर देना बहुत ही सुगम है।

---

## (३०) सांख्य और वेदांत।

हम आपको सांख्य शास्त्र का सिद्धांत संक्षेप रूप में बतला चुके हैं। अब आज के व्याख्यान में हम यह दिखलावेंगे कि उसकी न्यूनता कहाँ कहाँ है और वेदांत दर्शन से उसकी पूर्ति किस प्रकार होती है। आपको स्मरण होगा कि सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति ही इन सारी अभिव्यक्तियों का कारण है जिन्हें हम ज्ञान, बुद्धि, चित्त, राग-द्वेष, वेदना, रूप, रस, गंध, स्पर्श तथा द्रव्यादि कहते हैं। सब की उत्पत्ति प्रकृति से है।

यह प्रकृति सत्, रज और तम से बनी है। गुण नहीं हैं अपितु द्रव्य हैं; भूत हैं जिनसे सारे विश्व की सृष्टि हुई है। कल्प के आदि में उनकी साम्यावस्था रहती है। जब सृष्टि आरंभ होती है, तब उनमें संयोग पर संयोग होने लगता है और वही विश्व के रूप में व्यक्त हो जाते हैं। उसका पहला विकार महत् है। उससे अहंकार उत्पन्न होता है। सांख्य के अनुसार अहंकार एक तत्व है। अहंकार से मन उत्पन्न होता है; फिर उससे इंद्रियाँ और तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। तन्मात्राओं का विकास चित्त से होता है। इन्हीं तन्मात्राओं से भूतों की उत्पत्ति होती है। तन्मात्राएँ देख नहीं पड़तीं; पर जब वे स्थूल हो जाती हैं, तब हम उन्हें इंद्रियों द्वारा प्रत्यक्ष कर सकते हैं।

महत्तत्व, अहंकार और मन की शक्तियों से जब चित्त काम करता है, तब उससे एक शक्ति उत्पन्न होती है जिसे प्राण कहते हैं। आप इस भाव को नितांत त्याग दीजिए कि प्राण श्वास को कहते हैं। श्वास प्राण का एक कार्य्य है। प्राण उस क्षिप्र क्षोभ शक्ति को कहते हैं जो शरीर को चलाती है और विकार रूप से प्रकट होती है। सबसे पहला और स्पष्ट कर्म जो प्राण का है, वह श्वास की गति है। प्राण का प्रभाव वायु पर है, न कि वायु का प्राण पर है। श्वास की गति के रोकने को प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम इसलिये किया जाता है कि हमें गति पर अधिकार प्राप्त हो। इसका फल यही है कि हमें श्वास के ऊपर अधिकार मिले और हमारे फेफड़े दृढ़ हों।

यह व्यायाम है, प्राणायाम नहीं है। प्राण जीवन की शक्ति है जो सारे शरीर में काम करता है और उसके अंग प्रत्यंग में, जिसे मन वा आभ्यंतर अंग कहते हैं, काम करता है। यहाँ तक अच्छा ही है। सांख्य के विचार बहुत ठीक और यथार्थ हैं। पर फिर भी यह संसार में सबसे प्राचीन युक्तियुक्त विचार हैं। जहाँ कहीं कोई दर्शन वा युक्तियुक्त विचार है, उसमें कुछ न कुछ सांख्य की सहायता अवश्य ली गई है। कपिल का उपकार उन पर अवश्य है। फीसागोरस ने भारत में इस दर्शन का अध्ययन किया और यूनान में जाकर उसकी शिक्षा दी। इसके बाद प्लेटो ने इसकी एक झलक पाई और विज्ञानवादी इसे सिकंदरिया ले गए और वहाँ इसकी शिक्षा दी। वहीं से वह युरोप में आया। अतः जहाँ जहाँ मनोविज्ञान वा दर्शन हैं, उन सबके प्रधान उत्पादक यही महात्मा कपिल हैं। यहाँ तक तो उनका दर्शन विलक्षण ही है; पर हमें अनेक बातों में उससे विरोध है जो हम आगे चलकर बतलावेंगे। हम देखते हैं कि कपिल के विचारों का आधार विकाश है। कपिल एक से दूसरे की उत्पत्ति या विकाश बतलाते हैं। उनके 'कारण गुणपूर्वक कार्य्य गुणोद्देशः' सूत्र की इस बात से कि कारण ही दूसरा रूप धारण करके कार्य्य होता है और इससे कि सारे विश्व का विकाश होता जाता है, यह स्पष्ट प्रकट है। हम मिट्टी देखते हैं। उसी के विकार का नाम घट है। इसके अतिरिक्त कार्य्य हमें कोई भाव ही नहीं समझ में आता। अतः यह

सारा विश्व प्रकृति से व्यक्त हुआ है वा विकास को प्राप्त हुआ है। अतः सारा विश्व अपने कारण से भिन्न नहीं हो सकता। कपिल के मतानुसार अव्यक्त से लेकर बुद्धि या अहंकार तक एक भी भोक्ता नहीं है। जैसे मिट्टी का डला वैसे मन का डला। मन में स्वतः कोई प्रकाश नहीं है; पर हम देखते हैं कि उसमें बुद्धि है वा बोध होता है। अतः हम देखते हैं कि इनके परे कोई और है जिसका प्रकाश महत् वा अहंकार और अन्य विकारों पर पड़ता है; और कपिल इसी को पुरुष और वेदांत आत्मा कहता है। कपिल के अनुसार पुरुष असंग है। उसमें संयोग नहीं है; वह अप्राकृतिक है और वही अकेला ऐसा है जो भौतिक नहीं है। उसको छोड़कर शेष सब भौतिक हैं। मुझे एक काला तख्ता दिखाई पड़ता है। बाह्य गोलक उसके संस्कारों को इंद्रियों तक पहुँचाता है। इंद्रियाँ उसे मन को पहुँचाती हैं, मन उसे बुद्धि को देता है और बुद्धि उसे जान नहीं सकती। उसका ज्ञान पुरुष को होता है जो उससे परे है। यही कपिल का मत है। यह सब मानो उसके दास हैं और संस्कार को उसके पास लाते हैं; और वह उनको आज्ञा देता है। वह उनका भोक्ता है, द्रष्टा है, सत् है, राजा है, मनुष्य की आत्मा है; वह अप्राकृतिक है। वह भौतिक वा प्राकृतिक नहीं है। इससे यह तात्पर्य्य है कि वह अनंत है, उसकी कोई अवधि नहीं है। सब पुरुष सर्व-व्यापी हैं; पर वे लिंग शरीर के द्वारा ही कर्म करते हैं। मन, अहंकार, इन्द्रियों और प्राण से लिंग शरीर बनता है। इसी

को ईसाई आध्यात्मिक शरीर कहते हैं। इसी शरीर को मुक्ति वा दंड वा स्वर्गादि मिलते हैं। इसी का जन्मादि होता है; क्योंकि हम देखते हैं कि आदि ही से पुरुष का गमनागमन होना असंभव है। गति गमनागमन को कहते हैं; और जो आता जाता है, वह सर्वगत नहीं होता। कपिल के दर्शन से यह जाना जाता है कि आत्मा अनंत है और वह प्रकृति का विकार नहीं है। वह प्रकृति से परे है, पर वह देखने में प्रकृति-बद्ध जान पड़ता है। उसके चारों ओर प्रकृति है और वह उसे अपने आपको समझता है। वह समझता है कि मैं लिंग शरीर हूँ। मैं स्थूल द्रव्य, स्थूल शरीर हूँ। यही कारण है कि उसे सुख दुःख होते हैं; पर वे वास्तव में उसे नहीं होते। वे लिंग शरीर को होते हैं जिसे सूक्ष्म शरीर कहते हैं।

समाधि की दशा को योगी लोग सबसे उच्च दशा कहते हैं। उस दशा में न तो द्रष्टा का भाव है न दृक् का; अतः उस अवस्था में आप पुरुष के पास पहुँच जाते हैं। आत्मा को न तो सुख है न दुःख। वह सब का द्रष्टा, सब कर्मों का नित्य साक्षी है, पर किसी कर्म के फल का भोक्ता नहीं है। जैसे सूर्य्य सब चक्षुओं की दृष्टि का कारण है, पर आँखों के दोष से उसे कोई संपर्क नहीं है; जैसे स्फटिक मणि में नीले पीले फूलों की आभा पड़ती है, पर वह न तो नीला होता है न पीला; वैसे आत्मा न द्रष्टा है न दृग्, न भोक्ता है न भोग्य; दोनों से परे है। इस आत्मा की अवस्था को प्रकट करने का सुगम

मार्ग यह है कि वह समाधि के सदृश है। यही सांख्य दर्शन का मत है।

दूसरी बात जो सांख्य कहता है, वह यह है कि प्रकृति की सारी अभिव्यक्ति आत्मा के लिये है, सारी सृष्टि किसी तीसरे के लिये है। यह सृष्टि जिसे आप प्रकृति कहते हैं, यह सारा परिवर्तन नित्य आत्मा के लिये हो रहा है—उसके भोग के लिये और उसी के मोक्ष के लिये कि वह छोटे से लेकर बड़े तक का अनुभव प्राप्त कर सके। जब उसे अनुभव हो जाता है, तब उसे जान पड़ता है कि वह प्रकृति में नहीं था; वह उससे नितांत पृथक् है, वह अविनाशी है, उसका आवागमन नहीं है। स्वर्ग में जाना और वहाँ से आकर जन्म लेना प्रकृति का धर्म है, न कि आत्मा का। इस प्रकार आत्मा मुक्त हो जाता है। सारी प्रकृति आत्मा के भोग और अनुभव प्राप्त करने के लिये काम कर रही है। आत्मा अवधि प्राप्त करने के लिये यह अनुभव कर रहा है, और वह अवधि मोक्ष है। पर सांख्य दर्शन के मत से अनेक आत्माएँ हैं। आत्मा की संख्या अनंत है। दूसरा सिद्धांत जो कपिल का है, वह यह है कि ईश्वर जगत् का कर्ता नहीं है। प्रकृति अकेली सारा काम कर सकती है। सांख्य कहता है कि ईश्वर की आवश्यकता नहीं है।

वेदांत कहता है कि आत्मा सत्, चित् और आनंद है। पर यह आत्मा के गुण नहीं हैं; वे एक हैं तीन नहीं, आत्मा का स्वरूप हैं। सांख्य की इस बात को वेदांत स्वीकार करता है कि

चेतनता प्रकृति का गुण है, वह प्रकृति से आती है। वेदांत यह भी प्रकट करता है कि जिसे चेतनता कहते हैं, वह संयोगज है। हमें अपने प्रत्यक्ष की परीक्षा करनी चाहिए। मैं काले तख्ते को देखता हूँ। ज्ञान कैसे होता है ? जिसे जर्मन दार्शनिक काले तख्ते का "मुख्य पदार्थ" कहते हैं, वह अज्ञात है; हम उसे जान नहीं सकते। मान लीजिए कि स्याह तख़्ता 'क' है। यही 'क' हमारे मन पर टकराता है और मन उससे टकराता है। मन एक सरोवर के समान है। उस सरोवर में एक कंकड़ी फेंको और लहर उलटकर कंकड़ी से टक्कर खायगी। यह लहर जो टक्कर खाती है, कंकड़ी नहीं है; वह है लहर ही। स्याह तख़्ता 'क' कंकड़ी के समान है जो हमारे मन में टकराता है। मन उसी पर टकराता है, अपनी लहर डालता है। इसी को हम स्याह तख़्ता कहते हैं। मैं आपको देखता हूँ। आप सचमुच अज्ञात और अज्ञेय हैं। आप 'क' हैं और आप मेरे मन पर टकराते हैं और मेरा मन आपके ऊपर लहर फेंकता है। वह आपसे टक्कर खाता है और वही लहर है जिससे मैं अमुक को जानता हूँ। प्रत्यक्ष में दो पदार्थ हैं। एक बाहर से आता है, एक भीतर से। इन्हीं दोनों के संयोग को अर्थात् क + मन को हम विश्व समझते हैं। सारा ज्ञान इसी प्रतिक्रिया का फल है। व्हेल वा तिमि के संबंध में यह निश्चय किया जा चुका है कि वह कितनी बार पूँछ पटकता है, उसके मन में प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है और उसे दुःख होता है। ऐसी

ही दशा भीतरी प्रयत्न की है। जो सच्ची आत्मा हमारे भीतर है, वह भी अज्ञात और अज्ञेय है। उसे 'ख' समझ लीजिए। जब हम उसे जानते हैं, तब हमारा ज्ञान ख+मन है। ख का आघात मन पर पड़ता है। अतः सारा विश्व हमारे लिये क+मन (बाह्य) और ख+मन (आभ्यंतर) है जिसमें क और ख विश्व के बाह्य और आभ्यंतर जगत् के मूल पदार्थ के लिये हैं।

वेदांत के अनुसार चेतनता वा अहंकार के तीन प्रधान लक्षण हैं अर्थात् मैं हूँ, मैं जानता हूँ, मैं सुखी हूँ। यह भाव कि "मुझे कुछ इच्छा नहीं है, मैं शांत और आनंदमय हूँ, कोई मेरी शांति में विघ्न नहीं डाल सकता" जो कभी कभी हममें उत्पन्न हुआ करता है, इसका मुख्य हेतु यह है कि अपने जीवन के आधार-भूत हम ही हैं। जब वही परिमित हो जाता है और मिल जाता है, तब वही सत् विकार, चित् विकार और आनंद विकार के रूप में प्रकट होता है। सब मनुष्य हैं, सब मनुष्य अवश्य जानते हैं और सब प्रेम में उन्मत्त होते हैं। वह प्रेम करना त्याग नहीं सकते। छोटे से बड़े तक सब अवश्य प्रेम करते हैं। 'ख' जो आभ्यंतर मूल पदार्थ है, जब मन से मिलता है, तब सत्, चित् और आनंद को उत्पन्न करता है जिसे वेदांत में सच्चिदानंद कहते हैं। शुद्ध सत्, अनंत, असंग, केवल और निर्विकार है। वही मुक्त आत्मा है। जब वही मन से मिल जाता है, मैला हो जाता है, तब उसी को प्रत्यक्ष सत् कहते हैं। तब वही मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, वनस्पति आदि रूप धारण

करता है और घटाकाश, पटाकाश रूप से लक्षित होता है। वह सत्य ज्ञान वह नहीं है जिसे हम जानते हैं; न वह ज्ञान है, न बुद्धि, न सहज बुद्धि है। जब वही भ्रमग्रस्त वा क्षुब्ध हो जाता है, तब उसी को हम ज्ञान कहते हैं। और नीचे आने पर वही बुद्धि हो जाता है; और अधिक विकार प्राप्त होने पर उसी को सहज बुद्धि कहते हैं। वह ज्ञान विज्ञान कहलाता है। वह न मन है, न बुद्धि, न सहज बुद्धि। उसका द्योतक शब्द केवल विज्ञान है। वह अनंत और असंग है। वही आनंद जब आच्छन्न होता है तब प्रेम कहलाता है। वही सूक्ष्म शरीर के लिये और विचार के लिये आकर्षण हो जाता है। यह केवल उसी आनंद का विकृत रूप है। सत्, चित् और आनंद आत्मा के गुण नहीं हैं, उसके स्वरूप हैं। उनमें और आत्मा में कोई अंतर नहीं है। तीनों एक हैं। हमें एक ही तीन रूपों में भासमान हो रहा है। वे सारे सापेक्ष ज्ञान से बहुत परे हैं। वही सत्य ज्ञान जब मस्तिष्क से छनकर बाहर निकलता है, तब उसे मन, बुद्धि आदि कहते हैं। व्यक्तिता में भेद उस आवरण के कारण पड़ता है जिससे होकर वह बाहर निकलता है। आत्मा की दृष्टि से मनुष्य में और कीट पतंग आदि में कोई अंतर नहीं है। अंतर केवल यही है कि कीट पतंगादि के मस्तिष्क उतने प्रोन्नत नहीं होते और उनके द्वारा व्यक्तिता को हम सहज ज्ञान कहते हैं जो बहुत धुंधुला होता है। मनुष्य के मस्तिष्क बहुत प्रोन्नत वा सूक्ष्म होते हैं। इसी कारण अभि-व्यक्ति भी बहुत स्पष्ट होती है। अधिक उच्च मनुष्यों में वह

और अधिक स्पष्ट होती है। यही अवस्था सत् की भी समझ लीजिए। वह सत् जो हमें संकुचित दिखाई पड़ता है, उसी वास्तविक सत् की झलक मात्र है, वही आत्मा का स्वरूप है। यही आनंद की दशा है जिसे हम प्रेम वा आकर्षण कहते हैं। यह उसी आत्मा के आनंद की झलक मात्र है। अभिव्यक्ति में संकोच होता है, पर आत्मा का अव्यक्त रूप अनंत है; उस आनंद की सीमा नहीं है। पर प्रेम ससीम है। मैं आपसे आज प्रेम करता हूँ, कल आप से बैर करूँगा। आज मेरा प्रेम अधिक है तो कल कम होगा; क्योंकि वह एक कला मात्र की अभिव्यक्ति है।

पहली बात जिसके विषय में मैं कपिल से विरोध करता हूँ, उसका ईश्वर-संबंधी विचार है। जैसे प्रकृति के विकार महत् से लेकर शरीर तक के लिये एक पुरुष की आवश्यकता है जो उसका शासन करता है, उसी प्रकार विश्वनिदान वा प्रकृति और विश्वगत महत् अहंकार, मन, तन्मात्रा भूतों के लिये भी एक शासक की आवश्यकता है। भला विश्वनिदान की बातें बिना एक विश्वव्यापी पुरुष के कैसे ठीक हो सकती हैं। उसके लिये भी तो वैसे ही शासक की आवश्यकता है। यदि आप कहें कि विश्व के लिये पुरुष की आवश्यकता नहीं है, तो मैं कहूँगा कि इस शरीर के लिये भी पुरुष की आवश्यकता नहीं। आप नहीं मानते तो मैं भी नहीं मानता। यदि यह ठीक है कि इस शरीर के काम चलाने के लिये पुरुष की आवश्यकता है जो असंग है, तब तो उसी युक्ति से विश्व का काम चलाने के

लिये एक पुरुष की भी आवश्यकता है। उसी विश्वगत पुरुष को जो इस प्रकृति और उसकी अभिव्यक्ति के परे है, हम ईश्वर परमेश्वर आदि कहते हैं।

अब अत्यंत आवश्यक विचार है जिसमें हमारा मतभेद है। क्या एक से अधिक पुरुष हो सकते हैं? हम देख चुके हैं कि पुरुष सर्वगत और अनंत माना गया है। सर्वगत और अनंत दो नहीं हो सकते। मान लीजिए कि दो अनंत हैं—'अ' और 'ब'। तो 'अ' और 'ब' में सीमा-भेद होगा; क्योंकि 'अ' 'ब' नहीं है, 'ब' 'अ' नहीं है। भिन्नता पार्थक्य का नाम है और पार्थक्य ससीमता को कहते हैं। अतः 'अ' और 'ब' जो एक दूसरे की सीमा के कारण हैं, निःसीम वा अनंत नहीं रहते। अतः एक ही अनंत हो सकता है और वही एक पुरुष है।

अब हम उन्हीं 'क' और 'ख' को लेते हैं और यह सिद्ध किए देते हैं कि दोनों एक हैं। हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि जिसे हम बाह्य जगत् कहते हैं, वह क + मन है और जिसे आभ्यंतर जगत् कहते हैं, वह ख + मन है। 'क' और 'ख' अज्ञात और अज्ञेय पद हैं। अंतर देश, काल और परिमाण के कारण है। मन इन्हीं से बना है। बिना उनके मन की कोई क्रिया ही नहीं हो सकती। आप बिना काल के सोच नहीं सकते, न देश के बिना आप किसी को समझ सकते हैं; और परिणाम बिना आपको कुछ उपलब्ध नहीं हो सकता। यह मन के रूप हैं। इन्हें अलग कर दीजिए, फिर मन ही न रह जायगा। अतः भेद का

कारण मन हैं। वेदांत के अनुसार मन ही के कारण, उसके रूपों ही के कारण 'क' और 'ख' परिमित जान पड़ते हैं और बाह्य तथा आभ्यंतर जगत् दिखाई देते हैं। पर 'क' और 'ख' दोनों मन से परे हैं। उनमें अंतर है ही नहीं, वे एक ही हैं। हम उनमें किसी गुण का आरोप नहीं कर सकते। कारण यह है कि गुण मन से उत्पन्न होते हैं। जो निर्गुण है वह अनेक नहीं हो सकता; एक हो सकता है। 'क' निर्गुण है। उसमें मन के गुण आ जाते हैं। इसी प्रकार 'ख' भी निर्गुण है और उसमें भी मन ही के कारण गुण है; अतः 'क' और 'ख' एक ही हैं। सारा विश्व एक ही है। विश्व में केवल एक ही आत्मा है, एक ही सत्ता है। वही एक सत्ता जब देश, काल और परिणाम से होकर निकलती है तब उसी को बुद्धि, तन्मात्रा, स्थूल और सूक्ष्म भूत, सूक्ष्म और स्थूल शरीरादि कहते हैं। इस विश्व में जो है वह वही एक है और वही अनेक भासमान हो रहा है। जब उसकी एक झलक देश-काल और परिणाम के जाल से बाहर देख पड़ती है, तब वह रूप ग्रहण कर लेती है। जाल को हटा दो, सब एक ही हैं। इसी लिये अद्वैत दर्शन में सारा विश्व आत्मा में एकीभूत है, जिसे ब्रह्म कहते हैं। वही आत्मा जब विश्व की ओट में दिखाई पड़ता है, तब ईश्वर कहलाता है। वही आत्मा जब इस सूक्ष्म विश्व शरीर की ओट में रहता है, तब जीवात्मा कहलाता है। वही आत्मा मनुष्य में जीवात्मा के रूप में है। एक ही पुरुष है जिसे वेदांत ब्रह्म कहता है। ईश्वर और मनुष्य सब ज्ञानदृष्ट्या उसी में

एकीभूत हैं। आप ही विश्व हैं, आप ही विश्व में भर रहे हैं। आप सब हाथों से कर्म करते हैं, सब मुँह से खाते हैं, सब नाकों से साँस लेते हैं, सब मन से विचार करते हैं। सारा विश्व आप ही हैं; विश्व आपका शरीर है। आप ही रूप और अरूप विश्व हैं। आप ही विश्व की आत्मा और विश्व के शरीर हैं। आप ही ईश्वर हैं; देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, ज़ंगम, स्थावर, जड़, चेतन सब आप ही हैं; सबकी अभिव्यक्तियाँ आप ही हैं। जो कुछ है, आप ही हैं। आप अनंत हैं। अनंत का खंड नहीं। मेरे तो अंश ही नहीं है; यदि अंश भी होंगे तो अनंत होंगे। यदि अंश होंगे भी तो वे पूर्ण के समान ही होंगे; पर यह असंभव है। अतः यह विचार कि आप अंश हैं, आप अमुक अमुकी हैं, ठीक नहीं है; स्वप्नवत् है। इसे जानो और मुक्त हो जाओ। यही अद्वैत का तत्व है। 'न मैं शरीर हूँ, न इंद्रिय हूँ, न मन हूँ। मैं सच्चिदानंद हूँ, वही हूँ'। यही सच्चा ज्ञान है। इसके अतिरिक्त सारा ज्ञान, सारी बुद्धि और जो कुछ है, सब अज्ञान है। मुझे ज्ञान कहाँ से होगा? मैं तो स्वयं ज्ञान हूँ। मेरे लिये जीवन कहाँ से आवेगा? मैं तो स्वयं जीवन हूँ। मुझे निश्चय है कि मैं हूँ, क्योंकि मैं ही जीवन हूँ। संसार में कोई ऐसी सत्ता नहीं जो मुझ में, मेरे द्वारा वा मेरे रूप में न हो। मैं ही भूतों के द्वारा व्यक्त होता हूँ, पर मैं मुक्त हूँ। मुक्ति कौन ढूँढ़ता है? कोई नहीं। यदि आप अपने को बद्ध मानते हैं, तो बद्ध हैं, आप ही

अपने को बाँधते हैं। यदि आप अपने को मुक्त जानें तो आप उसी क्षण मुक्त हैं। यही ज्ञान है, यही मोक्ष है। सारी प्रकृति का लक्ष मोक्ष ही है।

---

## (३१) धर्म का लक्ष एकता वा अभेद है।

(न्यूयार्क १८९६)

हमारा विश्व, इंद्रिय, ज्ञान और बुद्धि का विश्व दोनों ओर से अप्रमेय और अज्ञेय से सीमाबद्ध है। इसी के भीतर अन्वेषण है, इसी में जिज्ञासा है, इसी में तत्व है और इसी से वह प्रकाश उत्पन्न होता है जो संसार में धर्म के नाम से प्रख्यात है। तत्वतः धर्म इंद्रियातीत है, इंद्रियों का विषय नहीं है। यह तर्क से भी परे है, बुद्धि का विषय नहीं है। यह आभास, अवभास, अज्ञात और अज्ञेय में निमग्न होकर अज्ञेय को अतिज्ञेय करता है; कारण यह है कि यह 'ज्ञान' में आ नहीं सकता। यह खोज मनुष्य के अंतःकरण में, और मैं जानता हूँ कि मनुष्यों के आदि में, उत्पन्न हुई। संसार के इतिहास के किसी काल में कोई मानव तर्क और बुद्धि ऐसी थी ही नहीं जिसमें यह उलझन और अलौकिक जिज्ञासा न उत्पन्न हुई हो। अपने इस छोटे विश्व में, इस मानव अंतःकरण में हम देखते हैं कि एक विचार उत्पन्न होता है। यह कहाँ से उत्पन्न होता है, हमें पता नहीं; और जब यह लुप्त होता है तब कहाँ जाता है, हमें इसका भी

ज्ञान नहीं। स्थूल और सूक्ष्म जगत् मानों एक ही आकार के हैं; उनमें एक ही परदा बदलता और एक ही राग बजता है।

मैं आपके सामने हिंदुओं के इस विचार को रखने का प्रयत्न करूँगा कि धर्म बाहर से नहीं उत्पन्न होता, अपितु भीतर से निकलता है। मेरी यह धारणा है कि धर्म मनुष्य की प्रकृति ही है; यहाँ तक कि जब तक वह अपने मन और शरीर को न छोड़े, अपने विचार और जीवन को न त्यागे, धर्म का छोड़ना असंभव है। जब तक मनुष्य में विचारने की शक्ति है, यह झमेला बना है, तब तक मनुष्य को किसी न किसी रूप में धर्म रखना ही पड़ेगा। यह भूलभुलैयाँ सी बात है। पर जैसा कि हम में से बहुतेरे समझते हैं, यह असार विचार नहीं है। इस अव्यवस्था में व्यवस्था है, इस बेताली ध्वनि में ताल स्वर है; और जो इसे सुनना चाहे, स्वर को ग्रहण कर सकता है।

आजकल सारे प्रश्नों से बड़ा प्रश्न यह है कि अच्छा मान लीजिए कि यह ज्ञात और ज्ञेय दोनों ओर से अज्ञेय और अतीव अज्ञात से संपुटित है, तो फिर उस अत्यंत अज्ञात के लिये यह श्रम क्यों है? हम ज्ञेय ही से संतुष्ट क्यों न रहें? हम खाने-पीने और समाज का कुछ थोड़ा सा उपकार करने पर ही संतोष क्यों न धारण करें? इस बात की हवा फैली हुई है। बड़े बड़े विद्वान् अध्यापक से लेकर बकवादी बच्चों तक सब यही कहा करते हैं कि संसार में भलाई करो; यही सबसे बड़ा धर्म है और इससे परे के प्रश्न पर माथा खपाना व्यर्थ

है। दशा ऐसी हो गई है कि यह सर्वतंत्र सिद्धांत हो रहा है। पर सौभाग्यवश हम इसके परे की जिज्ञासा अवश्य करेंगे। यह उपस्थित, यह व्यक्त उस अव्यक्त की एक कला मात्र है। यह इंद्रियगम्य जगत् उस अनंत आध्यात्मिक विश्व का एक अंश वा अणुमात्र है जो निकलकर बोधावस्था को प्राप्त हो गया है। भला जो यह छोटा अंश निकल पड़ा, वह तब तक समझ में कैसे आ सकता है जब तक उसका बोध न हो जो इससे परे है? कहते हैं कि सुकरात एथेंस में व्याख्यान दे रहा था। उसे एक ब्राह्मण मिला जो यूनान में यात्रा करने गया था। सुकरात ने ब्राह्मण से कहा कि मनुष्य के लिये सबसे अधिक जानने योग्य मनुष्य ही है। ब्राह्मण ने उसी समय खंडन कर दिया और कहा—भला ईश्वर को जाने बिना मनुष्य को आप कैसे जान सकते हैं? वह ईश्वर सदा अज्ञेय, केवल, अनंत वा अनाम है; वही सब ज्ञात और ज्ञेय इस जीवन की एकमात्र व्याख्या है। अपने आगे के किसी पदार्थ को ले लीजिए जो अत्यंत स्थूल वा भौतिक हो। अत्यंत भौतिक विज्ञान को ही लीजिए; जैसे रसायन, भौतिकी, ज्योतिष वा प्राणिशास्त्र। उसका अभ्यास कीजिए। अभ्यास बढ़ाते जाइए, स्थूल रूप गलने लगेगा और द्रवीभूत होगा। फिर सूक्ष्मातिसूक्ष्म होता जायगा और जाते जाते ऐसी पराकाष्ठा को प्राप्त हो जायगा जहाँ से आपको एकबारगी इन प्राकृतिक पदार्थों को छोड़कर अप्राकृतिक का आश्रय लेना पड़ेगा। स्थूल बदलकर सूक्ष्म रूप धारण कर लेता

है और भौतिक आध्यात्मिक हो जाता है। यह ज्ञान के प्रत्येक विभाग में होता रहता है।

इस प्रकार मनुष्य को बाह्य के अध्ययन के लिये विवश होना पड़ा है। जीवन मरुभूमि हो जायगा और मनुष्य का जीवन निःसार हो जायगा, यदि हम बाह्य को न जान सकें। यह कहना अच्छा है कि वर्तमान दशा पर हमें संतुष्ट रहना चाहिए; बैल और कुत्ते ज़ंतु वा प्राणी हैं; वैसे ही और सब जंतु भी हैं; बस इतने ही से वे जंतु हैं। इसी प्रकार यदि मनुष्य वर्तमान दशा से संतुष्ट रहें और इसके बाहर की सब जिज्ञासा त्याग दें तो फिर मनुष्य पशु हो जायँ। यह धर्म ही है अर्थात् परोक्ष की जिज्ञासा, जिससे मनुष्य और हैं और पशु और हैं। यह ठीक कहा गया है कि केवल मनुष्य एक ऐसा जंतु है जो ऊपर देखता है, अन्य जंतु सामने देखनेवाले हैं। ऊपर देखना, ऊपर की जिज्ञासा करना और आप्तता ढूँढ़ना ही मोक्ष वा निर्वाण कहलाता है; और ज्यों ही मनुष्य ऊर्ध्वगामी होने लगता है, त्यों ही वह उस सत्य के आदर्श की ओर उठने लगता है जिसे निर्वाण कहते हैं। इसमें इसकी आवश्यकता नहीं कि आपके पास पुष्कल धन हो वा आपके पास उत्तम परिच्छद हों वा रहने के घर अच्छे हों; पर आवश्यकता है मस्तिष्क में आध्यात्मिक विचारों के होने की। इसी से मनुष्य उन्नति कर सकता है; यही सारी भौतिक और आध्यात्मिक उन्नतियों की जड़ है जिसमें छिपी हुई वह संचालक शक्ति है, वह उत्साह है, जो मनुष्य को आगे ढकेलता है।

धर्म न तो रोटी में रहता है न घर में रहता है। बार बार यह आपत्ति आपके सुनने में आई होगी कि धर्म से लाभ क्या है? क्या इससे दरिद्रों की दरिद्रता जाती रहेगी ? मान लीजिए कि वह न हुआ, तो क्या इतने से धर्म की असत्यता सिद्ध हो जायगी? मान लीजिए कि आप ज्योतिष के एक प्रश्न का स्पष्टीकरण कर रहे हैं और एक बच्चा आकर पूछे कि क्या इससे जलेबी मिलेगी? आप उत्तर देंगे कि नहीं, जलेबी न मिलेगी। बच्चा कहेगा कि तो फिर यह व्यर्थ ही है। बच्चे सब बातों को अपनी ही परिस्थिति से देखते हैं। उनके लिये तो वही अच्छा है जिससे जलेबी मिले। ऐसे ही संसार के बाल-धी भी हैं। हमें उच्च पदार्थों का निर्णय नीच परिस्थिति से नहीं करना चाहिए। प्रत्येक पदार्थ का निराकरण उसी की परिस्थिति से करना ठीक होता है। अनंत का निर्णय अनंतता की परिस्थिति से होना चाहिए। धर्म मनुष्य के जीवन के अंग अंग में व्याप्त है, न केवल वर्तमान में अपितु भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों काल में। अतः यह नित्य जीवात्मा का नित्य ईश्वर के साथ शाश्वत् संबंध है। क्या यह न्यायसंगत है कि हम क्षणभंगुर मानव-जीवन से धर्म के मूल्य का अनुमान करें? कभी नहीं। यह सब निषेधार्थक उपपत्तियाँ हैं।

अब इस बात पर ध्यान दीजिए कि धर्म से कुछ लाभ है। हाँ है तो। इससे मनुष्य को अनंत जीवन का लाभ होता है। इसने मनुष्य को इस दशा पर पहुँचाया है और यही उसे मनुष्य

से देवता बना देगा। यही धर्म कर सकता है। धर्म को मनुष्य-समाज से अलग कर दीजिए, फिर वह रह क्या जायगा? केवल पशुओं का झुंड। इंद्रियों का सुख मनुष्यता का लक्ष्य नहीं है, ज्ञान ही सारे जीवन का लक्ष्य है। हम देखते हैं कि मनुष्य को बुद्धि से उतना अधिक सुख मिलता है जितना पशुओं को इंद्रियों से नहीं मिलता। हम देखते हैं कि उसे अध्यात्म से जो आनंद मिलता है, वह बुद्धि से भी नहीं मिलता। अतः अध्यात्मज्ञान सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है। इसी ज्ञान से आनंद उत्पन्न होता है। संसार के सारे पदार्थ उसी की छाया हैं। सच्चा ज्ञान और आनंद तीसरे चौथे विकार की अभिव्यक्तियाँ हैं।

एक प्रश्न और शेष रह गया। लक्ष्य वा अवधि क्या है? इस समय कुछ लोग कहते हैं कि मनुष्य निरंतर आगे को उन्नति करता जा रहा है और कोई आप्तता की अवधि प्राप्त करने को नहीं है। "नित्य आगे बढ़ता जा रहा है, पर कहीं पहुँच नहीं रहा है" यह स्पष्ट अनर्गल बात है। क्या सरल रेखा में कुछ गति है? सरल रेखा निरंतर बढ़ाई जाने पर वृत्त बन जाती है। वह जहाँ से आरंभ हुई, वहीं आ जाती है। आप जहाँ से चले, वहीं पहुँचेंगे; और जब आपका आरंभ ईश्वर से हुआ है, तब उसी में अंत भी होगा। फिर बचा क्या? आडंबर मात्र। अनंत काल तक आपको कर्माडंबर करना ही पड़ेगा।

फिर भी एक और प्रश्न खड़ा होता है। क्या हमें आगे बढ़ते हुए धर्म की नई नई सत्यता की खोज करना है? उत्तर है—

हाँ और नहीं दोनों। पहले तो यह है कि धर्म का इससे अधिक ज्ञान हम प्राप्त नहीं कर सकते; सब प्राप्त हो चुका है। संसार के सब धर्मों में आपको यह प्रतिज्ञा मिलेगी कि हममें एकता है। ज्ञान कहते हैं एकता प्राप्त करने को। हम आपको स्त्री और पुरुष के रूप में देखते हैं, यह भेद ज्ञान है। यह विज्ञान की बात है कि हम आप सबको एक वर्ग में रखकर मनुष्य कहते हैं। उदाहरण के लिये रसायनशास्त्र को ले लीजिए। रासायनिक लोग सब ज्ञात पदार्थों के मौलिक भूतों को जानना चाहते हैं और उनका अर्थ होता है उस एक मूल तत्व के जानने का जिससे वे सब निकले हैं। वह समय आ सकता है जब कि उन्हें उस मूल तत्व का ज्ञान हो जाय जो सारे भूतों का मूल है। वहाँ पहुँचकर वे आगे नहीं जा सकते। तब रसायन शास्त्र पूर्ण हो जायगा। यही दशा धर्म के विज्ञान की भी है। यदि हमें पूर्ण अभेद वा एकता का बोध हो जायगा, तो हमें आगे जाना रह ही न जायगा।

दूसरा प्रश्न यह है कि क्या ऐसी एकता मिल सकेगी? भारतवर्ष में धर्म और दर्शन के विज्ञान को प्राप्त करने की चेष्टा की जा चुकी है। कारण यह है कि जैसे पश्चिम के देशों की चाल है, हिंदू इन दोनों को अलग अलग नहीं समझते। हम समझते हैं कि धर्म और दर्शन एक ही वस्तु के दो भिन्न भिन्न रूप हैं और दोनों तर्क और वैज्ञानिक सत्य की कसौटी पर कसे जा सकते हैं।

सांख्यदर्शन भारतवर्ष में, और सच कहिए तो संसार भर में, सबसे पुराना दर्शन है। इसके आदि आचार्य्य महर्षि कपिल भारतीय योगशास्त्र के आदि प्रवर्तक माने जाते हैं; और जिस सिद्धांत की उन्होंने शिक्षा दी है, वह आज तक भारतवर्ष के सारे प्रमाणिक दर्शनों का मूल है। सब उसके मनोविज्ञान को लेकर चले हैं, अन्य बातों में वे उससे भले ही विरुद्ध क्यों न हों।

वेदांत जो सांख्य का न्यायानुकूल निचोड़ है; अपने निगमन को उससे भी आगे ले जाता है। उसका उत्पत्ति-क्रम कपिल की शिक्षा के अनुकूल होने पर भी द्वैतवाद से संतोष नहीं करता अपितु अपनी जिज्ञासा अंतिम एकता वा अभेदवाद तक करता जाता है जो धर्म और विज्ञान का समान लक्ष है।

---

## ( ३२ ) मुक्त आत्मा।

सांख्य दर्शन द्वैत सत्ता, प्रकृति और पुरुष तक आकर रुक जाता है और आगे नहीं बढ़ सकता। पुरुष की संख्या अनंत मानी गई है। वे असंग वा शुद्ध हैं; उनका नाश नहीं हो सकता और इसी लिये वे प्रकृति से भिन्न हैं। प्रकृति परिणाम को प्राप्त होती हुई समस्त गोचर पदार्थों को अभिव्यक्त करती है। सांख्य के मतानुसार पुरुष अक्रिय है। वह स्वरूप से शुद्ध है और पुरुष के मोक्ष के हेतु प्रकृति सारी सृष्टि को उत्पन्न करती है। पुरुष को प्रकृति से विलग जानने से मोक्ष प्राप्त होता है। यह भी

हम देख चुके हैं कि सांख्य शास्त्र यह मानने पर विवश हुआ है कि पुरुष विभु वा सर्वगत है। शुद्ध वा केवल होकर पुरुष परिच्छिन्न नहीं हो सकता। कारण परिच्छेद तो देश-काल वा परिणाम के कारण होता है। परिच्छिन्न होने के लिये वा परिच्छेद के लिये देश में होने की अर्थात् शरीर की आवश्यकता है; और शरीर प्रकृति ही में है। यदि पुरुष के रूप है तो वह प्रकृति है; इसी लिये पुरुष अरूप है। और जो अरूप है, उसे यह नहीं कह सकते कि यहाँ है, वहाँ है, वा कहीं और है। वह अवश्य विभु वा सर्वव्यापक होगा। इसके आगे सांख्य दर्शन की पहुँच नहीं।

वेदांत दर्शन की इस पर पहली आपत्ति यह है कि यह निश्चय ठीक नहीं है। यदि प्रकृति असंग वा शुद्ध हो और पुरुष भी शुद्ध हो तो दो शुद्ध पदार्थ ठहरेंगे; और वह सारी युक्ति जिससे पुरुष का विभुत्व सिद्ध किया जाता है, प्रकृति के विभुत्व पर प्रयुक्त होगी; और प्रकृति भी देशकाल और परिणाम से परे ठहरेगी; और फिर कोई विकार वा अभिव्यक्ति न हो सकेगी। फिर एक और कठिनाई पड़ेगी कि दो शुद्ध पदार्थ ठहरेंगे; और यह असंभव है। इस पर वेदांत का समाधान क्या है? वेदांत कहता है कि सांख्यशास्त्र का यह कथन है कि प्रकृति और स्थूल भूतों से महत् तक उसके सब विकार जड़ हैं। उनके परे एक चेतन पदार्थ की आवश्यकता है जो मन को विचार में और प्रकृति को काम करने के लिये प्रेरित करता है। इसमें वह चेतन सत्ता है जो विश्व से परे है; उसी को हम ब्रह्म कहते हैं और

इसी लिये ब्रह्म से जगत भिन्न नहीं है। वही विश्व रूप बन गया है। वह विश्व का न केवल निमित्त कारण है, अपितु उपादान कारण भी है। कारण से कार्य्य भिन्न नहीं है, अपितु कारण का ही रूपांतर कार्य्य है। यह हमें नित्य का अनुभव है। अतः यही सत्ता प्रकृति का भी कारण है। वेदांत के सारे संप्रदायों और मतों को, चाहे द्वैत हो, विशिष्टाद्वैत हो वा अद्वैत हो, पहले यह मानना पड़ता है कि ब्रह्म विश्व का न केवल निमित्त कारण, अपितु प्रधान कारण है और जो कुछ है, सब वही है। वेदांत की दूसरी बात यह है कि सारी आत्माएँ ब्रह्म के अंश हैं, अप्रमेय अग्नि की चिनगारी हैं। जैसे अग्नि से सहस्रों चिनगारियाँ निकलती हैं, वैसे ही उस पुराण पुरुष से आत्माएँ निकली हैं। यहाँ तक तो ठीक है। पर क्या इतने पर संतोष होता है? अनंत के अंश से अभिप्राय क्या है? अनंत अविभाज्य है; अनंत के अंश नहीं हो सकते। अनंत का विभाग कहाँ? इसका अर्थ क्या है कि यह सब उसकी चिनगारियाँ हैं? इसका समाधान अद्वैतवादी वेदांती इस प्रकार करते हैं कि प्रत्येक आत्मा ब्रह्म का अंश नहीं, अपितु स्वयं ही ब्रह्म है। फिर अनेक क्यों हैं? सूर्य्य का प्रतिबिंब सहस्रों घड़ों में पड़ता है। वह तदनुसार ही प्रत्येक घड़े में दिखाई पड़ता है। पर इतने से क्या सूर्य्य सहस्रों हो जाता है? वे सब हैं तो प्रतिबिंब ही। सूर्य्य तो एक ही बना रहता है। यही दशा आत्माओं की है। वे प्रतिबिंब मात्र हैं, सत् नहीं हैं। 'मैं' यह विश्व का ईश्वर,

विश्व में एक पूर्ण सत्ता है। और ये सब प्राणीमात्र मनुष्य, पशु, कीट, पतंगादि सब प्रतिबिंब मात्र हैं, सत् नहीं हैं। वह केवल प्रकृति के ऊपर मिथ्या आभास मात्र हैं। विश्व केवल एक ही ब्रह्म है। वही 'मैं' 'तुम' आदि के रूप में भासमान हो रहा है। पर यह भिन्न भिन्न भासमान होना अंत को भ्रम मात्र है। उसका विभाग नहीं हुआ, पर विभाग केवल भासमान हो रहा है। यह भेद इस कारण है कि हम उसे देशकाल और परिणाम के जाल की आड़ से देखते हैं। जब मैं ब्रह्म को देशकाल और परिणाम के जाल से देखता हूँ, तब वह मुझे भौतिक जगत् भासमान होता है। जब मैं कुछ और ऊँचे स्थान से उसी जाल द्वारा देखता हूँ, तब वह मुझे पशु के रूप में देख पड़ता है। और ऊँचे से देखने पर मनुष्य, और और ऊँचे से देवता है। वह विश्व में एक ही पूर्ण सत्ता है और वह सत्ता हम ही हैं। मैं वही हूँ, आप वही हैं। उसके अंश नहीं, पूर्ण हैं। वह शाश्वत ज्ञाता है जो इस गोचर जगत् की आड़ में है; वह गोचर है। वही द्रष्टा है, वही दृग्; वही मैं हूँ, वही आप हैं। पर यह है कैसे? ज्ञाता को जानें कैसे? ज्ञाता अपने को नहीं जान सकता। मैं सबको देखता हूँ, पर अपने आपको नहीं देखता। वही आत्मा, वही ज्ञाता, सबका अधीश्वर, सत्पुरुष ही विश्व के सारे आभास का कारण है। पर यह असंभव है कि वह अपने को देख सके, अपने को जान सके, सिवा इसके कि अपना प्रतिबिंब देखे। आपको अपना मुँह बिना दर्पण के नहीं दिखाई देता। इसी प्रकार आत्मा को अपना

स्वरूप बिना प्रतिबिंब के दिखाई नहीं पड़ सकता । अतः यह सारा विश्व ब्रह्म ही है जो अपने को जानने का प्रयत्न कर रहा है। यह प्रतिबिंब पहले प्रोटोप्लाज्म वा ऐकेंद्रिय जंतु के ऊपर प्रतिबिंबित होता है; फिर वनस्पति पर, फिर कीट-पतंग, पशु-पक्षी आदि प्राणियों पर; और जैसा जैसा आदर्श मिलता है, वैसा वैसा प्रतिबिंब दिखाई पड़ता है; और अंत को उसका सर्वोत्कृष्ट आदर्श आप्त पुरुष होता है। जैसे अपना रूप देखनेवाला मनुष्य पहले मैले पानी में अपना प्रतिबिंब देखता है तो उसे केवल आकार देख पड़ता है। फिर वह शुद्ध निर्मल जलाशय के पास जाता है । वहाँ उससे अधिक स्पष्ट प्रतिबिंब दिखाई पड़ता है । फिर वह चमकीले धातु की चद्दर पर देखता है । वहाँ और साफ देख पड़ता है; और अंत को वह दर्पण हाथ में लेता है और उसमें अपने यथार्थ रूप को देखता है; तब उसे अपने रूप का बोध होता है । अतः आप्तपुरुष ब्रह्म का सर्वोत्कृष्ट प्रतिबिंब है जो स्वयं द्रष्टा और स्वयं दृग है। अब आपकी समझ में आ गया कि क्यों मनुष्य स्वभाव से ही सबकी उपासना करता है। आप्तपुरुषों की उपासना स्वभाव से ही सब देशों में ईश्वरवत् क्यों होती है ? आप जैसा चाहें, कहें; वे उपासना करने योग्य हैं, उनकी उपासना होगी । यही कारण है कि मनुष्य अवतारों की उपासना करते हैं। ईसा की उपासना होती है, भगवान् बुद्धदेव की पूजा होती है। वे लोग ब्रह्म की पूर्ण अभिव्यक्तियाँ हैं। वे ईश्वर की उन सब कल्पनाओं से जो आप और हम कर

सकते हैं, कहीं ऊँचे हैं। ऐसी कल्पनाओं से आप्तपुरुष ही उत्तम है। उसी में परिधि पूरी होती है, द्रष्टा और दृग् एक हो जाते हैं। उसी में सारे भ्रमों का अंत है और उसके स्थान में इस ज्ञान का उदय होता है कि 'मैं सदा पूर्ण ब्रह्म था'। फिर यह बंधन कहाँ से आया? भला यह संभव कैसे है कि यह पूर्ण ब्रह्म विकारी होकर अपूर्ण बन जाय? यह हो कैसे सकता है कि मुक्त बद्ध हो जाय? अद्वैतवाद का कथन है वह कभी बद्ध नहीं था, सदा मुक्त था। आकाश में नाना वर्ण के बादल दिखाई पड़ते हैं। वे क्षणमात्र रहते और फिर तीन तेरह हो जाते हैं। आकाश ज्यों का त्यों शुभ्र नीलवर्ण बना रहता है। आकाश में विकार नहीं होता, बादल में विकार भले ही होता रहे। इसी प्रकार आप सदा पूर्ण हैं, नित्य पूर्ण हैं। आपके स्वरूप को न कोई बदलता है न बदलेगा। यह सारे भाव कि मैं अपूर्ण हूँ, पुरुष हूँ, स्त्री हूँ, पापी हूँ, मन हूँ, बुद्धि हूँ, मैंने सोचा, मैं विचारूँगा, इत्यादि सब मृगतृष्णावत् हैं। आप कभी सोचते नहीं, कभी आपके शरीर नहीं था, आप कभी अपूर्ण नहीं थे। आप इस विश्व के आनंदमय अधिपति हैं—सब भूत और भविष्य के एकमात्र शासक, सर्वशक्तिमान्, सूर्य्य, चंद्र, तारा, ग्रहोपग्रह, पृथिवी, समस्त जगत् के एकमात्र शासक। आपके ही कारण सूर्य्य में प्रकाश है, आप ही तारों को चमकाते हैं, आप ही से पृथ्वी सुंदर देख पड़ती है। यह आपकी महिमा है कि सब परस्पर प्रेम करते और आकृष्ट हो रहे हैं। आप सब में

हैं और आप ही सब हैं। किसे त्यागिएगा, किसे ग्रहण कीजिएगा। आप ही तो सब कुछ हैं। जब यह ज्ञान आता है तब भ्रम दूर भाग जाता है।

मैं एक बार भारतवर्ष की मरुभूमि में गया। वहाँ महीना भर चलता रहा और मुझे नित्य सामने सुंदर जलाशय आदि का दृश्य दिखाई पड़ता रहा। एक दिन मुझे प्यास लगी। मैं पानी के लिये ऐसे ही एक सरोवर की ओर चला। पर मेरा पास पहुँचना था कि सरोवर का कहीं पता नहीं। उस समय मुझे ध्यान हुआ कि यह तो वही मृग-जल है जिसे मैं जन्म भर पढ़ता रहा हूँ। मैं अपनी मूर्खता का स्मरण कर हँसने लगा कि मैं महीने भर इन जलाशयों के मनोहर दृश्य को देखता रहा और जान न सका कि यह है क्या। दूसरे दिन मैं फिर चला और फिर वही दृश्य सामने आया; पर साथ यह विचार भी उत्पन्न हुआ कि यह मृग-जल है। ज्ञान उत्पन्न हुआ कि वह भ्रम जाता रहा। इसी प्रकार विश्व का भी भ्रम एक न एक दिन छूट ही जायगा। सब लुप्त हो जायगा और जाता रहेगा। यही साक्षात्कार है। दर्शन हँसी की बात नहीं है और न कहने सुनने की चीज है। यह साक्षात् करने की चीज है। शरीर न रह जायगा, पृथ्वी और सारे पदार्थ जाते रहेंगे, यह भाव कि मैं शरीर वा मन हूँ, कभी न कभी छूट जायगा, जाता रहेगा; वा यदि कर्म का शेष हो गया, तब तो इनका क्षय हो जायगा और ये फिर आने के नहीं। पर यदि कुछ भी कर्म रह गया—जैसे कुम्हार का चाक

वर्तन बनने पर भी फिरता ही रहता है—तो यह शरीर यात्रा-भ्रम नष्ट होने पर कुछ काल तक बना रहेगा। फिर तो यह संसार पुरुष, स्त्री, पशु आदि सब वैसे ही देख पड़ेंगे जैसे मुझे दूसरे दिन मृग-जल देख पड़ा। पर उनका वह भ्रम बना रहेगा। साथ ही उसके यह विचार उत्पन्न होगा कि मैं इनके स्वरूप को जानता हूँ, यह बंधन के कारण फिर न होंगे, न फिर दुःख-मोह-शोक होगा। जब कोई दुःख आ ही जायगा, तब मन चट कह देगा कि मैं जानता हूँ कि तुम सब मृगजल के समान हो। जब मनुष्य इस अवस्था को पहुँच जाता है, तब उसे जीवन्मुक्त कहते हैं। ज्ञानयोगी का लक्ष्य इस जन्म में जीवन्मुक्ति का लाभ है। जीवन्मुक्त वही है जो इस संसार में अनासक्त होकर रहे। वह पद्म पत्र के समान है जो पानी में तो रहता है, पर जिस पर पानी ठहरता नहीं। वही सब मनुष्यों में, नहीं नहीं सब प्राणियों में श्रेष्ठ है। उसने ब्रह्म से अपनी एकता जान ली है, उसने साक्षात् कर लिया है कि मैं और ब्रह्म एक ही हैं। जब आप यह समझते रहेंगे कि आपमें और ईश्वर में अणु मात्र का अंतर है, तभी आपको भय है। पर जब आपको यह ज्ञान हो जाय कि आप वही हैं, कोई भेद नहीं, कुछ अंतर नहीं, आप वही हैं, सब वही हैं, केवल वही, तो फिर भय कहाँ? वहाँ कौन किसे देखे? कौन किसे पूजे? कौन किससे बोले? कौन किसकी सुने? जहाँ एक दूसरे को देखता है, एक दूसरे से बोलता है, एक दूसरे की सुनता है, वहीं लघुता है। जहाँ न कोई किसी को देखता है,

न कोई किसी से कहता है, न कोई किसी की सुनता है, वहीं बड़ाई है, वहीं महत् है, वहीं ब्रह्म है। वह होकर आप सदा वही रहेंगे। फिर संसार का क्या होगा ? संसार की हमसे भलाई क्या होगी ? ऐसे प्रश्न फिर उठेंगे ही नहीं। बच्चा कहता है कि मेरी जलेबी किस काम आवेगी ? लड़का कहता है, मैं बड़ा हो जाऊँगा तो मेरे खिलौने क्या होंगे ? मैं तो बड़ा न होऊँगा। लड़की कहती है, मैं बड़ी होऊँगी तो मेरी गुड़िया क्या होगी ? ऐसे ही संसार के विषय के प्रश्न भी हैं। न यह कभी था, न है और न होगा। यदि हमें आत्मा के स्वरूप का बोध हो जाय, यदि हम यह जान जायँ कि सचमुच संसार कुछ नहीं है, तो यह संसार अपनी बुराई भलाई सुख दुःख के लिये हमें विचलित नहीं कर सकेगा। यदि वह है ही नहीं तो फिर हमें किसके लिये और किस बात की चिंता है ? यही ज्ञानयोग का उपदेश है। अतः मुक्त होने का साहस करो। जहाँ तुम्हारी बुद्धि ले जा सके, जाओ और इसी जन्म में उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करो। ज्ञान का प्राप्त होना बहुत कठिन है। यह बड़े वीर, बड़े साहसी का काम है कि सारे खिलौनों को चूर चूर करके फेंक दे और केवल मन से नहीं, अपितु कर्म से भी कर दिखावे। शरीर मैं नहीं हूँ, यह जाय। इसी से तो सारे तमाशे हैं। एक मनुष्य आकर पूछेगा कि अच्छा मैं शरीर न सही, पर मेरी शिरोवेदना अच्छी हो जाय। पर यह तो बताइए कि शिरोवेदना है कहाँ ? शरीर ही में न है ? सहस्रों शिरोवेदनाएँ, सहस्रों शरीर

आवें और जायँ। इससे मुझे क्या ? मेरे तो जन्म है न मरण, न मेरे कभी पिता माता थे, न मेरा कोई शत्रु मित्र है; क्योंकि मैं ही तो सब कुछ हूँ, मैं ही अपना मित्र, मैं ही अपना शत्रु हूँ, मैं ही सच्चिदानंद हूँ, मैं वही हूँ। यदि मुझे हजार शरीर में ज्वर आदि से कष्ट है तो करोड़ों शरीर में भी मैं नीरोग हूँ। यदि हजार शरीर में भूखों मरता हूँ तो हजारों शरीर से खिलाता भी हूँ। यदि सहस्र देह में दुःखी हूँ, तो सहस्र देह में सुखी भी हूँ। कौन किसकी निंदा करेगा, कौन किसकी प्रशंसा? किसे ग्रहण करें, किसे त्यागें? मुझे न किसी से राग है न द्वेष। मैं स्वयं समस्त विश्व हूँ। मैं अपनी निंदा आप करता हूँ। अपनी प्रशंसा भी आप ही करता हूँ। मैं अपने आप दुःखी और अपने आप सुखी बनता हूँ। मैं मुक्त हूँ। ऐसा ही पुरुष ज्ञानी, वीर और साहसी है। सारे विश्व को नष्ट होने दो। वह हँसेगा और कहेगा कि यह तो कभी था ही नहीं। यह सब मृगतृष्णा का जाल था; हम तो विश्व को शून्य देखते हैं। वह था कहाँ? वह गया कहाँ?

आभ्यासिक अंश तक पहुँचने के पहले हम एक और विचार-योग्य प्रश्न उठाते हैं। यहाँ तक तो युक्ति बड़ी प्रबल है। यदि कोई तर्क करे तो बिना उसे यह माने ठहरने का स्थान नहीं है कि यहाँ केवल एक ही सत्ता है और सारे पदार्थ जो हैं, कुछ हैं ही नहीं। युक्ति प्रमाण माननेवाले मनुष्य के लिये इसको छोड़ कोई मार्ग नहीं है। पर इसका कारण क्या है कि वह

नित्य पूर्ण, नित्य सच्चिदानंद ब्रह्म इस भ्रम वा माया में पड़ा? यह वही प्रश्न है जो संसार भर में पूछा जा चुका है। गँवारू बोली में यही प्रश्न इन शब्दों में होता है कि संसार में पाप कैसे आ घुसा? भेद इतना ही है कि यह गँवारू और स्वार्थ लिए हुए है और वह दार्शनिक है; पर दोनों का उत्तर एक ही है। यही प्रश्न भिन्न रूप में और ढंग से पूछा जा चुका है; पर निकृष्ट रूप में इसका कोई समाधान नहीं होता। कारण यह है कि सेब और साँप और स्त्री की कहानियों से इसका समाधान नहीं होता। उस दशा में जैसा यह बच्चों का सा प्रश्न है, वैसा ही उसका उत्तर भी है। पर अब उसी प्रश्न ने उत्तम रूप धारण कर लिया है। 'यह माया वा भ्रम कहाँ से आया?' इसका उत्तर भी वैसा ही सूक्ष्म है कि असंभव प्रश्न के उत्तर की आशा करना व्यर्थ है। यह प्रश्न ही पदशः असंभव है। आपको यह प्रश्न करने का अधिकार नहीं है। क्यों? पूर्णता है क्या? जो देश-काल और परिणाम से बाहर हो, वही पूर्ण है। फिर आप कहेंगे कि अच्छा तो पूर्ण वा अखंड अपूर्ण कैसे हो गया? न्याय के शब्दों में यही प्रश्न इस प्रकार होगा कि जो निर्विकार है, वह विकारी कैसे हुआ? यह वदतोव्याघात दोष है। पहले तो आप उसे निर्विकार मानते हैं, फिर पूछते हैं कि विकारी कैसे हुआ? यह प्रश्न तो विकार को मानने पर ही हो सकता है। जहाँ तक देश-काल और परिणाम की व्याप्ति है, वहीं तक यह प्रश्न हो सकता है। पर उसके

बाहर ऐसा प्रश्न करना मूर्खता की बात है। वहाँ वही प्रश्न असंगत ठहरेगा। देश-काल और परिणाम के भीतर इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता। जो उत्तर इसके परे के विचार से दिया जा सकता है, वह तभी दिया जा सकता है जब हम उस दशा को प्राप्त हों। अतः समझदार तो इस प्रश्न को यहीं छोड़ देते हैं। जब कोई रोगग्रस्त होता है, तब वह अपने रोग के मिटाने की चिंता में लगता है। वह इस पर हठ नहीं करता कि पहले मुझे यह बतला दो कि मुझे रोग कैसे हुआ।

उसी प्रश्न का एक और रूप है। वह है तो कुछ नीचा, पर अधिक आभ्यासिक और स्पष्ट है। यह भ्रम उत्पन्न किससे हुआ? क्या किसी यथार्थता से भ्रम उत्पन्न हो सकता है? कभी नहीं। हम देखते हैं कि एक भ्रम से दूसरा भ्रम उत्पन्न होता रहता है। भ्रम ही भ्रम को उत्पन्न करता है। जब कार्य्य भ्रम है, तब उसका कारण भी भ्रम होगा। प्रश्न यह होता है कि यह भ्रम उत्पन्न किससे हुआ? उत्तर है, दूसरे भ्रम से। इसी प्रकार अनादि तक चला गया है। अब प्रश्न यह हो सकता है कि क्या इससे अद्वैत मत में दोष नहीं आता? आप दो सत्ताएँ स्वीकार करते हैं, एक अपनी और दूसरी भ्रम की। उत्तर यह है कि भ्रम को सत्ता नहीं कह सकते। आप अपने जीवन में सहस्रों स्वप्न देखते हैं, पर वे आपके जीवन के अंश नहीं बन सकते। स्वप्न आते और जाते हैं; उनकी कोई सत्ता नहीं। भ्रम को सत्ता कहना हेत्वाभास है। इसलिये इस विश्व में केवल

एक सत्ता है जो नित्य मुक्त, नित्यानंद है और वह वही है जो आप हैं। यही अद्वैत का अंतिम सिद्धांत है।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि फिर नाना प्रकार की उपासनाओं से लाभ क्या है? उत्तर है कि वह सब अँधेरे में प्रकाश ढूँढ़ने के समान है; इसी ढूँढ़ने से प्रकाश मिलेगा। हम कह चुके हैं कि आत्मा अपने को नहीं देख सकता। हमारा ज्ञान माया के जाल के भीतर है और उसके बाहर मुक्ति है; जाल के भीतर दासत्व ही बंधन है। उसके बाहर बंधन नहीं। जहाँ तक विश्व से संबंध है, सत्ता बंधन के अधिकार में है, वा बद्ध है; उससे परे मुक्ति है। जब तक आप देश-काल और परिणाम के जाल में पड़े हैं, आपका यह कहना कि हम मुक्त हैं, नितांत अनर्गल है। जब वह अनंत सत्ता माया के जाल में आबद्ध सी हो जाती है, तब वह इच्छा का रूप धारण कर लेती है। इच्छा उसी सत्ता का एक अंश है जो माया के जाल में पड़ी है और 'स्वतंत्र इच्छा' उसकी अचरितार्थ संज्ञा है। इसका कुछ अर्थ नहीं, यह नितांत निरर्थक है। ऐसे ही मुक्ति के संबंध की यह सब बातें हैं। माया में मुक्ति कहाँ।

हममें से प्रत्येक मनुष्य मन, वाणी, कर्म तथा विचार में इस प्रकार बद्ध है जैसे पत्थर का कोई खंड वा यह मेज। मेरा आपसे बातें करना वैसे ही परिणाम के नियम में है जैसे आपका मेरी बातें सुनना। जब तक आप माया के बाहर न जायँ, मुक्ति नहीं है। यही आत्मा की सच्ची मुक्ति है। मनुष्य

चाहे जितनां तीक्ष्ण और कुशाग्र-बुद्धि क्यों न हो, चाहे जितना इस युक्ति के बल को क्यों न समझता हो कि कोई मुक्त नहीं हो सकता, पर वह यह विचारने को विवश होता है कि मैं मुक्त हूँ। वह रुक नहीं सकता। कोई काम नहीं हो सकता जब तक हम यह कहना नहीं आरंभ करते कि हम मुक्त हैं। इसका आशय यह है कि मुक्ति जिसका हम वर्णन करते हैं, आकाश की वह झलक है जो बादलों से छनकर आती है; और वही स्वच्छ नील आकाश है जो इसके परे है। इस भाव में विशुद्ध मुक्ति कहाँ। इस मृग-जल, इस मिथ्या जगत् में, इस इंद्रियों के संसार में, शरीर और मन में मुक्ति रह ही नहीं सकती। यह सब स्वप्न है जिसका न आदि है, न अंत; अनिरुद्ध और आनिरोध्य जो हमारे इस विश्व के विचार से बुरा, छिन्न भिन्न और विषम है। स्वप्न में जब आप बीस सिरवाले राक्षस को देखते हैं कि आपके पीछे दौड़ रहा है और आप भाग रहे हैं, तब आप उसे संसार-दृष्ट्या अयुक्त नहीं समझते, ठीक ही समझते हैं। नियम ऐसा ही है। जिसे आप नियम कहते हैं, वह यदृच्छा है; उसका कुछ अर्थ नहीं है। उस स्वप्न-दशा में आप उसे नियम कहते हैं। माया में जब तक यह देश-काल और परि-णाम का नियम है, तब तक मुक्ति नहीं। यह सब भाँति भाँति की पूजा-प्रतिष्ठा इसी माया के अंतर्गत है। ईश्वर का भाव हो वा मनुष्य का भाव वा पशु का भाव, सब इसी माया में है। इस प्रकार सब व्यामोह मात्र है, सब स्वप्न है। पर

स्मरण रखिए, आप उन अद्भुत मनुष्यों की भाँति कभी तर्क न कीजिएगा जो आजकल तर्क किया करते हैं। वे कहते हैं कि ईश्वर का विचार ही भ्रम है और संसार का विचार सत्य है। दोनों विचारों का एक ही तर्क वा युक्ति से समर्थन और खंडन हो सकता है। वही सच्चा नास्तिक हो सकता है जो इस लोक और परलोक दोनों को न माने। वही युक्ति दोनों के लिये हो सकती है। वही भ्रम ईश्वर से लेकर छोटे जंतु तक में हो सकता है और घास के गुच्छे से लेकर जगत्कर्ता तक में व्याप्त है। एक ही तर्क से उनका समर्थन और खंडन होता है। उसी मनुष्य को जिसे ईश्वर के विचार का मिथ्यात्व देख पड़ता है, अपने शरीर और अपने मन का मिथ्यात्व भी देख पड़ना चाहिए। जब ईश्वर विलीन होता है, तब शरीर और मन भी विलीन हो जाते हैं; और जब दोनों का विनाश हो गया तब वही रह जायगा जो वास्तविक सत्ता है। वहाँ न चक्षु जा सकता है, न वाणी, न मन। हम उसे न देख सकते हैं, न जान सकते हैं। हम तो यह समझते हैं कि जहाँ तक वाणी, मन, ज्ञान और बुद्धि की पहुँच है, सब माया ही के अंतर्गत हैं, माया के बंधन में हैं। सत्य इससे परे है। वहाँ न बुद्धि पहुँच सकती है, न मन, न वाणी पहुँचती है।

ज्ञान-दृष्ट्या यहाँ तक तो ठीक है, पर अभ्यास की बात और है। सच्चा काम अभ्यास का है। क्या इस अद्वैत के साक्षात्कार के लिये किसी प्रकार के कर्म की आवश्यकता है? अवश्य है।

यह नहीं है कि आप ब्रह्म बन जाते हैं। आप सचमुच वही हैं। यह नहीं कि आप पूर्ण ब्रह्म बन रहे हैं; आप पूर्ण ब्रह्म ही हैं। और जब आप यह समझते हैं कि आप नहीं हैं, तभी भ्रम है। यह भ्रम कि आप अमुक वा अमुकी हैं, किसी और भ्रम से चला जायगा। यही अभ्यास है। आग आग को खायगी; (तब तो) आप एक भ्रम को दूसरे भ्रम से मिटा सकते हैं। एक बादल आवेगा, दूसरे को ठेल देगा; फिर दोनों चले जायँगे। फिर यह अभ्यास ही क्या है? हमें सदा मन में यह समझे रहना चाहिए कि हम मुक्त होने नहीं जा रहे हैं, पर यह कि हम मुक्त हैं ही। यहाँ तक कि सब प्रकार के विचार कि हम बद्ध हैं, भ्रम ही हैं। प्रत्येक विचार कि हम सुखी हैं, हम दुःखी हैं, बड़ा भ्रम है। फिर दूसरा भ्रम आता है कि हमें परिश्रम करना है, कर्म करना है, पूजा करना है और मुक्ति के लिये प्रयत्न करना है; और यह पहले भ्रम का पीछा करेगा और फिर दोनों रुक जायँगे।

मुसलामन लोमड़ी को बहुत ही अपवित्र समझते हैं, और हिंदू भी ऐसा ही समझते हैं। यदि कुत्ता खाने को छू ले तो लोग उसे फेंक देते हैं और खाते नहीं। किसी मुसलमान के घर एक लोमड़ी घुस गई और थालो में का खाना जूठा करके भाग गई। बेचारा निर्धन था। उसने अपने लिये पैसा लगाकर खाना पकाया था। खाना जूठा हो गया। वह खाय तो कैसे खाय। वह दौड़ा हुआ मुल्ला के पास गया और बोला—

मौलवी साहब, आज मेरे घर एक लोमड़ी घुस आई और थाली में से रोटी लेकर भाग गई। कहिए, मैं अब क्या करूँ। मैंने बहुत पैसा लगाकर खाना पकाया और खाने ही जाता था कि लोमड़ी आई और उसे जूठा कर गई। मुल्ला ने बहुत देर तक सोचा और फिर कहने लगा कि इसका सहज उपाय यही है कि एक कुत्ता बुला लाओ और उसी थाली से एक टुकड़ा कुत्ते को खिला दो; क्योंकि कुत्ता लोमड़ी का सहज बैरी है। वह खाना जो लोमड़ी से बचा है और जो कुत्ते को खिलाने से बचे, तुम खा लो; फिर वह पवित्र है। हम वैसी ही व्यवस्था में पड़े हैं। यह एक भ्रम की बात है कि हम अपूर्ण हैं; और हम दूसरे भ्रम में पड़ रहे हैं कि पूर्ण होने का प्रयत्न करने जाते हैं। फिर तो एक को दूसरे के पीछे दौड़ाया जाता है; जैसे काँटा निकालने के लिये काँटा काम में लाया जाता है और फिर दोनों फेंक दिए जाते हैं। ऐसे लोग भी हैं जिनके लिये तत्त्वमसि वाक्य का श्रवण मात्र पर्य्याप्त ज्ञान है। चुटकी बजाने में यह विश्व विलीन हो जाता है और सच्चा स्वरूप प्रकट हो जाता है। पर औरों को इस बंधन के भ्रम को मिटाने के लिए कठिन प्रयत्न करना पड़ता है।

पहली बात यह है कि कर्मयोगी होने का पात्र कौन है? जिसमें यह सब गुण हों। पहला गुण तो यह है कि उसमें कर्म के फल और ऐहिक तथा पारलौकिक सुखों का त्याग हो। यदि आप विश्व के कर्ता हैं, तो आप जिस वस्तु की इच्छा करें, आपको

प्राप्त होगी क्योंकि आप उसे बना सकते हैं। केवल काल का भेद है। किसी को वह तत्क्षण प्राप्त होती है, किसी के लिये पूर्व जन्म के संस्कार बाधक होते हैं। वे शीघ्र नहीं प्राप्त कर सकते। हम सबसे पहले सुख की इच्छा को स्थान देते हैं, चाहे वह इस जन्म के सुख के लिये हो वा अन्य जन्म के। जीवन का मानना ही छोड़िए क्योंकि जीवन मरण का नामांतर है। अपने को जीवित प्राणी समझिए ही मत। जीवन की चिंता किसे है? जीवन भी तो वैसे ही एक भ्रामक व्यामोह है और मृत्यु उसका प्रति रूप है। सुख भी इसी व्यामोह का एक अंश वा भाग है और दुःख दूसरा भाग है। इसी प्रकार और भी है। आपको जीवन-मरण से क्या काम? ये तो कल्पना की बातें हैं। इसी का नाम ऐहिक और आयुष्मिक सुखों का त्याग है।

फिर मन का दमन करना है। इसको इस प्रकार शांत करना चाहिए कि इसमें फिर वृत्तियाँ वा लहरें न उठें और न नाना प्रकार की इच्छाएँ उत्पन्न हों। मन को इस प्रकार वशीभूत करना चाहिए कि बाह्य वा आभ्यंतर कारणों से वह क्षुब्ध न हो। उसे अपनी इच्छा-शक्ति से पूर्ण वश में रखना चाहिए। ज्ञानयोगी इसमें शारीरिक वा मानसिक क्रियाओं से सहायता नहीं लेता; उसे केवल दार्शनिक युक्ति, ज्ञान और अपनी इच्छा पर ही विश्वास रहता है। यही एक मात्र साधन है। अब तितिक्षा आती है। तितिक्षा कहते हैं क्षमा को, सहिष्णुता को अर्थात् सब दुःखों को बिना विलाप, बिना परिवेदना और

बिना उपालंभ के सहना। कोई ज्ञति हो तो उसकी चिंता मत करो। सिंह सामने आ जाय तो डटे रहो। भागता कौन है? ऐसे लोग भी हैं जो तितिक्षा करते हैं और सफल होते हैं। संसार में ऐसे लोग भी हैं जो भारत के ग्रीष्म काल में मध्याह्न समय गंगा के तट पर सोते हैं और जाड़े में दिन दिन भर गंगाजी में पड़े रहते हैं। उन्हें चिंता ही नहीं है। लोग हिमालय के हिम में बैठे रहते हैं और उन्हें वस्त्र की चिंता नहीं। गर्मी क्या है? शीत किसे कहते हैं? आवे और जाय, मुझे इससे क्या काम; मैं शरीर नहीं हूँ। पश्चिम के देशों में इस पर विश्वास करना भी कठिन है, पर यह प्रख्यात है कि वे ऐसा करते हैं। जैसे यहाँ के लोग संग्राम में तोप के मुँह पर कूदने में शूर हैं, वैसे ही हमारे देश के लोग अपने दर्शनों को समझने और उनके अनुसार अभ्यास करने में शूर है। वे इस पर अपने प्राण देते हैं कि 'चिदानंद रूपो शिवोऽहम् शिवोऽहम्'। जैसे पश्चिम का आदर्श यह है कि भोग-विलास को नित्य के व्यावहारिक कामों में न छोड़ना, वैसे ही हमारा आदर्श है कि उस प्रकार की आध्यात्मिकता को बनाए रह कर यह सिद्ध कर देना है कि धर्म केवल शब्दाडंबर नहीं है; अर्थात् उसके एक एक अंश का इस जीवन में पालन किया जा सकता है। यही तितिक्षा है कि सब सहना। उपालंभ किस लिये देना? मैंने ऐसा कहते हुए मनुष्यों को देखा है कि मैं आत्मा हूँ, संसार से मुझसे क्या काम? धर्म क्या है? यह प्रार्थना करना कि मुझे यह दीजिए, वह

दीजिए ? यह सब धर्म की मूर्खता है ! जिनका उन पर विश्वास है, उन्हें ईश्वर और आत्मा का सच्चा बोध ही नहीं है। मेरे गुरुदेव कहा करते थे कि गिद्ध ऊपर उड़ता चला जाता है, यहाँ तक कि वह बिंदु के समान हो जाता है; पर उसकी आँखें पृथ्वी पर पड़े हुए सड़े मुर्दे पर ही रहती हैं। अंततोगत्वा आपके विचारों का फल क्या है ? सड़क पर झाड़ू देना और अधिक रोटी और कपड़े का होना ? रोटी और कपड़े की चिंता किसे है? करोड़ों प्रतिक्षण आते जाते रहते हैं। चिंता कौन करता है? इस लोक के सुख और परिवर्तनों के लिये प्राण क्यों देते हो ? साहस हो तो उसके बाहर पैर बढ़ाओ । सच्चिदानन्दोऽहं । सोऽहम् सोऽहम् ।

—:o:—

## एक ही अनेक भासमान है ।

( न्यूयार्क सन् १८९६ )

वैराग्य से ही भिन्न भिन्न योगों का भेद है। कर्मी कर्म के फल को त्यागता है। भक्त सब क्षुद्र प्रेमों को सर्वशक्तिमान् व्यापक प्रेम के लिये त्यागता है। योगी अपने अनुभवों को त्यागता है; क्योंकि योग का सिद्धांत है कि प्रकृति यद्यपि पुरुष के अनुभव के लिये है और अंत में उसे यह ज्ञान करा देती है कि वह प्रकृति नहीं है, पर सदा प्रकृति से वह अलग बना रहता है। ज्ञानी सब कुछ त्याग देता है; क्योंकि उसके दर्शन का

सिद्धांत है कि प्रकृति है हो नहीं—न भूत में, न भविष्य में, न वर्तमान में। इन उच्च प्रसंगों में उपयोगिता का प्रश्न हो ही नहीं सकता; उसका करना ही अनुपयुक्त है। और यदि कोई पूछे भी तो बहुत छानबीन करने पर हमें उस उपयोगिता के प्रश्न में मिलेगाही क्या? उनके लिये सुख का वह आदर्श है, जिससे मनुष्य को अधिक सुख की प्राप्ति हो। इन उच्च पदार्थों की अपेक्षा जिनसे उनकी आर्थिक अवस्था का सुधार नहीं होता न उन्हें अधिक सुख की प्राप्ति होती है, बड़ी उपयोगिता का पदार्थ है। सारे विज्ञान केवल इसी एक अभिप्राय से हैं कि मनुष्य को सुख मिले; और जिससे उसे अधिक सुख होता है, उसे वह ग्रहण कर लेता है और जिससे कम सुख की प्राप्ति होती है, उसे त्याग देता है। हम यह देख चुके हैं कि सुख या तो शरीर में होता है, या मन में, या आत्मा में। पशुओं में और अनेक क्षुद्र मनुष्यों में जो लगभग पशुओं ही से हैं, केवल शरीर ही सुख का आधार है। कोई मनुष्य वैसे सुख से नहीं खा सकता जैसे मर-भुक्खा कुत्ता वा भेड़िया खाता है। अतः कुत्त और भेड़िए का सुख उसके शरीर ही तक है। मनुष्यों में सुख की ऊँची अवस्था हमें देख पड़ती है, अर्थात् मन वा विचार का सुख; और ज्ञानी में सुख की सर्वोच्च दशा देखी जाती है, अर्थात् आध्यात्मिक वा आत्मा का सुख। अतः ज्ञानी के लिये यह आत्मज्ञान अत्यंत उपयोगी है क्योंकि इससे उसे सर्वोत्कृष्ट सुख प्राप्त होता है। इंद्रियों को सुख पहुँचानेवाले भौतिक पदार्थ पूर्ण उपयोगी नहीं हो सकते

क्योंकि उनमें वह आनंद नहीं मिलता जो ज्ञान में मिलता है। और इसके अतिरिक्त ज्ञान ही एक मात्र लक्ष्य है; और सचमुच वही, जहाँ तक हम जानते हैं, सबसे श्रेष्ठ सुख है। जो अज्ञान में कर्म करनेवाले हैं, वे देवताओं के पशु हैं। देवता का प्रयोग यहाँ विद्वान् और बुद्धिमान् के लिये है। जो लोग कर्म करते और परिश्रम करते हैं और कल की भाँति काम करते रहते हैं, उनको सचमुच जीवन का सुख नहीं होता। सुख तो केवल पंडितों ही को होता है। एक धनी लाखों रुपए देकर एक चित्र मोल लेता है। पर उसका आनंद वही पाता है जो उसके गुण को समझता है; और यदि धनी उस कला को नहीं जानता तो वह उसके लिये किसी काम का नहीं है, वह उसका स्वामी मात्र है। संसार भर में वही अकेला पंडित वा बुद्धिमान् पुरुष है जो संसार के सुख को त्यागता है। अज्ञानी पुरुष कभी सुख का भोग नहीं कर सकता। वह दूसरों के लिये अज्ञानवश काम करता रहता है।

यहाँ तक तो हम अद्वैतवादियों के सिद्धांत को देख चुके हैं कि वे केवल 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' मानते हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि कैसे समस्त विश्व में एक ही ब्रह्म की सत्ता है और वही सत्ता इंद्रियों द्वारा देखने से जगत्-रूप, प्राकृतिक जगत् भासमान होती है। जब वही मन द्वारा देखा जाता है, तब वह मानसिक लोक दिखाई पड़ता है; और जब हम उसे आध्यात्मिक दृष्टि से देखते हैं तब वही अनंत पूर्ण ब्रह्म बोध

होता हैं। मन में यह भले प्रकार समझ लेना चाहिए कि मनुष्य में प्रत्यगात्मा नहीं है। मैंने पहले इसे समझाने के लिये मान लिया था। पर यहाँ केवल एक ब्रह्म ही है, एक ही आत्मा है; और जब उसी को इंद्रियों के द्वारा, इंद्रियों की भावनाओं से देखते हैं, तब उसी को शरीर कहते हैं। जब उसी को विचार द्वारा देखते हैं, तब मन कहते हैं। और जब उसे उसी के रूप में देखते हैं, तब उसी को आत्मा या अद्वितीय ब्रह्म कहते हैं। अतः यह ठीक नहीं है कि एक ही में तीन पदार्थ हैं—शरीर, मन और आत्मा। यद्यपि समझाने के लिये ऐसा मान लिया गया था, पर सब आत्मा ही हैं। उसी को भिन्न भिन्न दृष्टियों से कभी शरीर, कभी मन और कभी आत्मा कहते हैं। एक ही सत्ता है जिसे अज्ञानी संसार कहते हैं। जब मनुष्य कुछ और ऊँचे जाता है तब उसी सत्ता को वह विचार का लोक वा मनोलोक कहता है। फिर जब ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और अज्ञान का नाश हो जाता है, भ्रम मिट जाता है, तब मनुष्य को जान पड़ता है कि यह सब आत्मा ही है, दूसरा कुछ नहीं। सोऽहम्—मैं वह ब्रह्म हूँ; यह अंतिम सिद्धांत है। विश्व में न तीन हैं, न दो हैं, केवल एक है, सब एक ही है। वही एक माया के कारण अनेक भासमान हो रहा है, जैसे रज्जु में सर्प। यह वही रज्जु है जो साँप भासमान हुआ था। दो पदार्थ नहीं हैं, रस्सी अलग और साँप अलग। कोई इन दोनों को एक साथ एक ही स्थान पर देखता है। द्वैत और अद्वैत अति सुंदर दार्शनिक शब्द हैं;

पर प्रत्यक्ष में हमें सत् और असत् एक ही समय दिखाई नहीं पड़ते । हम सब जन्म के अद्वैत हैं, हम करें तो क्या करें। हमें सदा एक ही देख पड़ता है। जब हम रज्जु देखते हैं तब हमें सर्प दिखाई ही नहीं पड़ता; और जब हम साँप को देखते हैं, तब रज्जु बिलकुल ही नहीं देख पड़ती; वह रह ही नहीं जाती। मान लीजिए कि आप अपने एक मित्र को देख रहे हैं जो सड़क पर आ रहा है। आप उसे अच्छे प्रकार पहचानते हैं। पर आप अपने सामने के अंधकार और कुहरे के कारण उसे दूसरा मनुष्य समझते हैं। जब आपको आपका मित्र कोई और दिखाई पड़ता है, तब आप अपने मित्र को नितांत नहीं देखते, वह लुप्त रहता है। आप एक ही को देखते हैं। मान लीजिए, देवदत्त आपका मित्र है। पर जब आपको देवदत्त यज्ञदत्त दिखाई पड़ता है, तब आप देवदत्त को नहीं देखते। प्रत्येक दशा में आपको देख पड़ता है एक ही। जब आप अपने को शरीर के रूप में देखते हैं, आप शरीर हैं; दूसरे कुछ नहीं हैं। मनुष्यों में विशेष लोग ऐसा ही देखते हैं। वे आत्मा, मन इत्यादि की बातें भले ही किया करें, पर वे देखेंगे स्थूल रूप ही छूसे स्पर्श, रस, रूप इत्यादि। फिर कुछ ऐसे लोग भी हैं जो चेतनता की किसी विशेष अवस्था में अपने को मन वा विचार के रूप में देखा करते हैं। आपको वह सर हम्फरी डेवी की बात स्मरण होगी जो अपने चेलों के सामने 'हँसती गैस' (Laughing-gas) की परीक्षा कर रहे थे और अचानक एक

नली टूट गई और गैस निकलने लगी। कहीं साँस लेने से गैस उनके भीतर चली गई। उससे उन्हें थोड़ी देर के लिये देह को सुधि भूल गई और वही पदार्थ जो उन्हें स्थूल रूप में देख पड़ते थे, विचार वा मनोरूप में दिखाई पड़ने लगे। थोड़ी देर तक वे उसी दशा में पड़े रहे। फिर उन्होंने अपने शिष्यों से उस अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया कि उस दशा में हमें सारा विश्व विचार-संभूत देख पड़ता था। उस गैस के प्रभाव से हम थोड़े काल के लिये विदेह हो गए थे और जो हमें पहले शरीर से रूप में देख पड़ता था, उसी को हम विचार के रूप में देखने लगे थे। जब ज्ञान की दशा उससे भी अधिक उच्च हो जाती है, जब यह छोटे ज्ञान सदा के लिये जाते रहते हैं, तब उसका प्रकाश दिखाई पड़ता है जो इसके परे है। तब हमें सच्चिदानंद विश्वात्मा के दर्शन होते हैं और उस ब्रह्म का साक्षात् हो जाता है जो ज्ञानस्वरूप, आनंद-स्वरूप, अनुपम, अप्रमेय, नित्य शुद्ध बुद्ध, मुक्तस्वभाव, आकाशवत्, सर्वगत, अनंत और निर्विकार है। वह आपके अंतःकरण में, ध्यान में प्रकट होगा, साक्षात् दर्शन देगा।

अब यह सुनिए कि अद्वैत सिद्धांत से स्वर्ग नरकादि की बातों का जिन्हें भिन्न भिन्न धर्मवाले मानते हैं, समाधान क्या है। जब कोई मनुष्य मर जाता है, तब लोग कहा करते हैं कि वह स्वर्ग में जाता है, नरक में जाता है, यहाँ जाता है, वहाँ जाता है, मरकर पुनः जन्म लेता है, स्वर्ग में शरीर धारण करता है, दूसरे

लोक में उत्पन्न होता है, इत्यादि। यह सब भ्रम है, मिथ्या है। न स्वर्ग है न नरक है, न यह लोक है, न परलोक है; सब भ्रम है। इनकी कहीं सत्ता ही नहीं है, ये हैं ही नहीं। बच्चे से बहुत से भूतों की कहानियाँ कहिए, और उसे कहिए कि संध्या समय गली में जाओ। वहाँ एक ठूँठ है। वह बच्चे को देख पड़ेगा। उसे वही भूत के रूप में उसे पकड़ने के लिये हाथ पसारे हुए देख पड़ेगा। मान लीजिए कि गली की ओर से कोई कामी पुरुष अपनी प्रेमिका से मिलने के लिये आ रहा है। वही ठूँठ उसे स्त्री के रूप में भासित होगा। चौकीदार को वही ठूँठ चोर के रूप में भासमान होगा। चोर को वही चौकीदार देख पड़ेगा। पर वास्तव में है क्या ? है तो ठूँठ ही न जो भिन्न रूपों में भासमान हुआ ? ठूँठ सत्य है; और शेष जो देख पड़े, मन के भिन्न भिन्न विकार थे जो भासमान हुए। एक ही सत्ता है, वही आत्मा, वही ब्रह्म; न कहीं कोई आता है न कहीं जाता है। जब कोई मनुष्य अज्ञानी होता है, तब वह स्वर्ग वा किसी और लोक के जाने की कामना रखता है और आजन्म उसकी भावना करता रहता है। जब वह मर जाता है, तब संसार के स्वप्न का अंत हो जाता है और उसे यही लोक स्वर्ग भासमान होता है। यहाँ उसे देवता देख पड़ते हैं, उड़ते हुए देवदूत वा फरिश्ते दिखाई पड़ते हैं। जैसी भावना होती है, वैसा ही उसे देख पड़ता है। यदि कोई मनुष्य आजन्म अपने पितरों को देखने की कामना रखता है तो उसे ब्रह्मा से लेकर उसके पिता

तक सब यहीं देख पड़ते हैं । कारण यह है कि उनका बनानेवाला वही है । यदि वह और भी अज्ञानी हो और भडरियों ने उसे नरक की बातों से डरा दिया हो और नाना प्रकार की यातनाओं का भय दिखला रखा हो तो मरने पर उसे यही लोक नरक देख पड़ेगा । जिसे जन्म लेना और मरना कहते हैं, वह है क्या ? केवल स्वप्न के दृश्य का बदलना है। न तो आप हिलते हैं और न वह हिलता है जिस पर आप अपनी भावना का आरोप करते हैं । आप अचल निर्विकार हैं। आप आ जा कैसे सकते हैं ? यह असंभव है कि आप सर्वव्यापक हों। आकाश अचल है। उसके ऊपर बादल आते जाते रहते हैं और हम समझते हैं कि आकाश चल रहा है। वैसे ही जब हम रेलगाड़ी पर सवार होते हैं तब हम समझते हैं कि किनारे के खेत चले जा रहे हैं। पर बात ऐसी नहीं होती; खेत नहीं चलते, किंतु चलती है रेलगाड़ी। आप जहाँ थे वही हैं। यह स्वप्न, यह बादल भागे जा रहे हैं । एक स्वप्न दूसरे स्वप्न के पीछे आता रहता है जिनमें लगाव नहीं। इस संसार में नियम वा लगाव तो कुछ है ही नहीं, पर हम समझ रहे हैं कि इसमें बहुत अधिक संबंध है । आप लोगों ने Alice in Wonderland नामक पुस्तक पढ़ी होगी। वह बच्चों के लिये बड़ी ही अद्भुत पुस्तक है जो इस देश में लिखी गई है। मैं तो उसको पढ़कर फड़क उठा। मैं बहुत दिनों से बच्चों के लिये ऐसी पुस्तक लिखना चाहता था। जिस बात से मुझे

सबसे अधिक प्रसन्नता हुई, वह ऐसी थी कि जिसे आप अत्यंत असंबद्ध समझते हैं, अर्थात् जिसमें कोई लगाव वा संबद्ध न था। एक भाव आया और फिर उसके स्थान पर दूसरा उचककर आया; दोनों नितांत असंबद्ध, कुछ लगाव नहीं। जब आप बच्चे थे, आप ने उस संबंध को अद्भुत समझ रखा था। अतः लेखक ने अपने बचपन के विचारों का संग्रह कर दिया जो बचपन की दशा में उसके लिये नितांत संबद्ध थे; और यह पुस्तक बच्चों के लिये लिख दी। बाकी सारी पुस्तकें जो लोग इस विचार से लिख हैं कि बच्चों में वे अपने भावों को भर दें और वे मनुष्यों की भाँति उसे ग्रहण करे, व्यर्थ हैं। हम भी तो बड़े बच्चे ही हैं। संसार वैसा ही असंबद्ध वस्तु है। Alice in Wonderland में किसी प्रकार का संबंध ही नहीं है। जब हम एक ही बात अनेक बार परंपरा विशेष के अनुसार होती हुए देखते हैं तो हम उसे कारण और कार्य्य का नाम देते हैं और कहने लगते हैं कि यही बात फिर होगी। जब यह स्वप्न जाता रहता है तब दूसरा स्वप्न आता है जो ठीक इसी की भाँति असंबद्ध होता है। जब तक हम स्वप्न देखते रहते हैं तब तक उसकी बातें हमें संबद्ध देख पड़ती हैं। स्वप्न की अवस्था में हमें उसकी असंबद्धता का विचार भी नहीं होता; उसकी असंबद्धता जागने पर ही प्रतीत होती है। जब हम संसार-रूपी स्वप्न से जागते हैं और इसे तथ्य के साथ तुलना करते हैं, तब यह हमें नितांत असंबद्ध और मिथ्या ज्ञान पड़ता है। असंबद्धता की

गठरी हम नहीं जानते कहाँ से आ जाती है; पर इतना मात्र हम जानते हैं कि इसका अंत होगा। इसी का नाम माया है। यह आकाश में उड़ते हुए बादलों की धज्जियों का समूह है। उन्हीं के कारण यह विकारवान भासित हो रहा है और आप जो सूर्य्य हैं, निर्विकार हैं। जब आप उसी निर्विकार सत्ता को बाहर से देखते हैं, तब उसे ईश्वर कहते हैं और जब उसी को भीतर से देखते हैं तब उसको 'मैं' कहते हैं। पर वह है एक ही। आप से पृथक् कोई ईश्वर नहीं है न आप से ऊँचा कोई ईश्वर है। सब देवता आपके सामने तुच्छ हैं, ईश्वर का वा आकाश के पिता का सारा भाव आप ही की छाया तो है। ईश्वर स्वयं आप का प्रतिरूप है। 'ईश्वर ने मनुष्य को अपने अनुरूप बनाया' यह वाक्य मिथ्या है। सत्य यह है कि मनुष्य ने ईश्वर को अपने प्रतिरूप बनाया। सारे विश्व में हम ईश्वर को अपने प्रतिरूप पर बना रहे हैं। हम ही ईश्वर को बनाते, उसके पैरों पर पड़ते और उसकी पूजा करते हैं; और जब यह स्वप्न उदय होता है तब हम उससे प्रेम करते हैं।

यह समझने की बात है कि इस व्याख्यान का तत्व और निचोड़ यह है कि संसार में केवल एक ही सत्ता है; और उसी सत्ता को जब हम भिन्न भिन्न परिस्थितियों से होकर देखते हैं, तब वही पृथ्वी, स्वर्ग, नरक, ईश्वर, देवता, मनुष्य, भूत, प्रेत, राक्षस, संसार और अन्य सारे रूपों में भासित होती है। पर इन बहुतों में 'वह' जो उस एक को इस मृत्यु-सागर में देखता

है, जो उस एक जीवन को विश्व में तैरता हुआ देखता है, जो उसका साक्षात्कार करता है, जिसमें विकार नहीं, उसी के लिये शाश्वत सुख है, दूसरे के लिये नहीं। उसी एक को साक्षात् करना चाहिए। दूसरा प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि उसका साक्षात् कैसे किया जाय? यह स्वप्न टूटेगा कैसे? हम इस निद्रा से कि हम मनुष्य, स्त्री, पुरुष आदि हैं, जागें कैसे? हम विश्व की अनंत सत्ता हैं और क्षुद्र रूप धारण किए हुए हैं; किसी की मीठी वा कड़ुई बातों के वश में पड़कर पुरुष, स्त्री आदि बने हैं। कैसा भयानक राग है, कैसी भयानक दासता है! मैं जो सुख दुःख से अलग हूँ, जिसका प्रतिबिंब सारा विश्व है, जिसके प्रकाश के एक एक कण सूर्य्य, चंद्र और तारे हैं, वही मैं इस प्रकार दारुण दासता में पड़ा हूँ। आप मेरे शरीर में चुटकी काटते हैं तो मुझे पीड़ा होती है। आप मीठी बातें कहते हैं तो मैं प्रसन्न हो जाता हूँ। मेरी दशा तो देखिए—शरीर का दास बना हूँ, मन का दास बना हूँ, संसार का दास हूँ, अच्छे बुरे शब्दों का दास हूँ, इंद्रियों का दास, सुख का दास, जीवन मरण का दास, एक एक करके सबका दास हो रहा हूँ। इस दासत्व को तोड़ना चाहिए। पर वह टूटे कैसे? अद्वैत ज्ञान की प्राप्ति का क्रम यह है 'आत्मा वा अरे श्रोतव्य मन्तव्य निदध्यासितव्य' सत्य को पहले सुनना चाहिए, फिर मनन करना चाहिए, फिर निदध्यासन करना चाहिए। अहं ब्रह्म का निरंतर चिंतन करो, सब विचारों

को विरोधी जानकर त्याग दो। उन सब विचारों का जो यह कहें कि आप स्त्री हैं पुरुष हैं, छोड़ दीजिए। शरीर को जाने दीजिए, मन को जाने दीजिए, देवताओं और राक्षसों को जाने दीजिए। सबको त्याग दीजिए और उसी ब्रह्म का अव-लंबन कीजिए। जहाँ एक दूसरे को सुनता है, एक दूसरे को देखता है, वहीं क्षुद्र है। जहाँ एक दूसरे को नहीं सुनता, एक दूसरे को नहीं देखता, वहीं ब्रह्म है। वहीं महान् है जहाँ द्रष्टा और दृग् एक हो जाते हैं। जब मैं ही श्रोता, मैं ही वक्ता, मैं ही उपदेष्टा, मैं ही उपदेश, मैं ही सृष्टि हूँ, तभी भय का नाश होता है। वहाँ दूसरा कोई है ही नहीं; भय किसका? वहाँ तो मैं ही अकेला हूँ। फिर भय किसका होगा? इसका नित्य श्रवण करना चाहिए। सब विचारों को छोड़ देना चाहिए, सबको त्याग देना चाहिए। इसी का बार बार निरंतर जप करना चाहिए इसी को कानों से सुनना चाहिए; यहाँ तक कि यह मन में पहुँच जाय, एक एक नाड़ी, एक एक नस में घुस जाय, रक्त की एक एक बूँद में यही रंग भर जाय कि सोऽहम् सोऽहम्। यहाँ तक कि मृत्यु के द्वार पर भी मुँह से यही सोऽहम् का शब्द निकले। भारतवर्ष में एक संन्यासी था जो शिवोऽहम् कहा करता था। एक दिन उस पर एक बाघ टूटा और उसे घसीटकर उसने मार डाला। जब तक उसमें प्राण रहे, वह शिवोऽहं शिवोऽहं करता रहा। उसके मुँह से शिवोऽहं का शब्द निकलता रहा। मृत्यु के द्वार पर बड़े से बड़ा भय हो, घने से घना जंगल हो, आपके मुँह से सोऽहं

का शब्द निकलता रहे। दिन रात सोऽहं का शब्द जपा करो। यह कभी न कहो कि मैं हीन या पापी हूँ। आपकी सहायता कौन करेगा ? आप संसार के सहायक हैं। विश्व में आपकी कौन सहायता कर सकता है ? आपकी सहायता करने को मनुष्य, देवता और दैत्य कहाँ बैठे हैं ? आप पर प्रभाव किसका पड़ सकता है ? आप विश्व के देवता हैं, आप कहाँ सहायता माँग रहे हैं ? कहीं और से कभी सहायता नहीं मिली है। जब मिली तब आपसे ही मिली। अज्ञान की दशा में आपने प्रार्थना की और वह सुनी गई। आपने समझा कि किसी और ने सुना; पर आपने आप ही अपनी प्रार्थना को अज्ञात रूप में सुना। सहायता आप ही के भीतर से मिली और आपने अज्ञानवश समझ लिया कि किसी और ने सहायता की। आपके बाहर कहीं सहायता नहीं, आप विश्व के स्रष्टा हैं। रेशम के कीड़े की भाँति आपने अपने को आवृत्त कर रखा है। आपको बचा कौन सकता है ? अपना आवरण काट डालिए और जैसे कुसियारी का कीड़ा कुसियारी को काटकर तितली बनकर बाहर निकल आता है, बाहर आ जाइए, मुक्त हो जाइए। तभी आपको सत्य दिखाई पड़ेगा। सदा आप सोऽहं सोऽहं कहा कीजिए। यह वह शब्द है जिससे आपके अंतःकरण के मल का नाश हो जायगा। यही शब्द है जिससे वह शक्ति जो आपके भीतर प्रसुप्त दशा में पड़ी है, जाग उठेगी। यह शक्ति केवल निरंतर सत्य को सुनने से ही बाहर लाई जा सकती

है। उसको प्रकट करने के लिये दूसरा कोई उपाय नहीं है। जहाँ कहीं निर्बलता के विचार मिलें, वहाँ पाँव न रखो। यदि ज्ञानी होना चाहते हो तो सब प्रकार की निर्बलता त्याग दो।

अभ्यास आरंभ करने के पहले अपने मन को सारी शंकाओं से साफ कर लो। वादविवाद, तर्क और युक्ति को त्याग दो और जब अपने मन में यह निश्चय कर लो कि यही सत्य है दूसरा नहीं, तब विशेष तर्क न करो, अपना मुँह बंद कर लो। न तर्क-वितर्क करो न उसे सुनो। अधिक तर्क से काम क्या? तुम ने निश्चय कर लिया है, अपने प्रश्न का समाधान कर लिया है। फिर रह क्या गया? अब तो केवल सत्य का साक्षात् कहना रह गया है। व्यर्थ तर्क में समय क्यों खोते हो? अब तो सत्य का निदध्यासन करना है। सारे विचार जो आपके पोषक हों, उन्हें ग्रहण कीजिए और जो विरोधी हों, उन्हें त्याग दीजिए। भक्त मूर्तियों, प्रतीक और ईश्वर का ध्यान करते हैं। यह सहज मार्ग है, पर धीमा है। योगी शरीर के भिन्न भिन्न चक्रों का ध्यान करता है और अपने मन में शक्तियों का संपादन करता है। ज्ञानी कहता है कि मन तो है ही नहीं; और न शरीर ही है। शरीर और मन के इस भाव को जाने देना चाहिए, निकाल देना चाहिए। वह सबका निषेध करता है; और जो बच रहता है, वही आत्मा है। यही विश्लेषण का ढंग है। ज्ञानी चाहता है कि विश्व को विश्लेषण द्वारा आत्मा से

अलग कर दे। यह कहना सहज है कि मैं ज्ञानी हूँ, पर ज्ञान होना बहुत कठिन काम है। वेद में कहा है कि मार्ग दुर्गम है, छुरे की धार पर चलना है। निराश मत हो; जागो, उठो और जब तक लक्ष्य पर न पहुँचो, विश्राम मत करो।

अतः ज्ञानी का निदिध्यासन क्या है? वह शरीर और मन के प्रत्येक विचार से ऊपर जाना चाहता है; वह इस भाव को निकाल देना चाहता है कि मैं शरीर हूँ। क्योंकि जब मैं यह कहता हूँ कि 'मैं स्वामी हूँ' तब शरीर के भाव का उदय हो जाता है। फिर मुझे करना क्या चाहिए? मुझे मन को एक ठोकर देनी चाहिए और कहना चाहिए कि मैं शरीर नहीं हूँ, मैं आत्मा हूँ। रोग आवे वा मृत्यु ही घोर रूप धारण कर क्यों न आवे, इसकी चिंता किसे है? मैं शरीर नहीं हूँ। शरीर को साफ सुथरा क्यों करते हो? क्या फिर और भ्रम में पड़ने के लिये? दासत्व में पड़े रहने के लिये? इसे त्यागो। मैं शरीर नहीं हूँ। ज्ञानी का मार्ग यही है। भक्त कहता है कि भगवान् ने मुझे शरीर दिया है; मैं शांति-पूर्वक भवसागर से पार हो जाऊँगा; मुझे इससे प्रेम करना चाहिए जब तक इसे पार न कर जाऊँ। योगी कहता है कि मुझे शरीर का संयम करना चाहिए कि मैं शांति-पूर्वक रहूँ और अंत को मोक्ष प्राप्त करूँ। ज्ञानी कहता है कि मैं रुकूँगा नहीं; अभी इसी क्षण अपने लक्ष्य पर पहुँचूँगा। वह कहता है कि मैं सदा से मुक्त हूँ; कभी बद्ध नहीं हूँ; मैं सदा से इस विश्व का अधीश्वर हूँ। मुझे आप्त कौन बनावेगा?

मुझे पूर्ण कौन करेगा ? मैं तो स्वयं आप्त हूँ, पूर्ण हूँ। जब मुझे अपूर्णता दिखाई पड़ती है, तब मेरे ही मन के अध्यारोप से। उसको अपूर्णता कहाँ दिखाई पड़ सकती है, यदि उसके भीतर अपूर्णता न हो ? ज्ञानी पूर्णता और अपूर्णता की चिंता नहीं करता। उसके लिये यह कुछ भी नहीं है। मुक्त होते ही उसे पाप पुण्य कुछ नहीं देख पड़ते। भला बुरा रह नहीं जाता। भला बुरा देखता कौन है ? वही न जिसके भीतर होता है ? शरीर को कौन देखता है ? वही न जो यह समझता है कि मैं शरीर हूँ ? जिस क्षण आप से यह भाव कि मैं शरीर हूँ, छूट जायगा, आपको संसार देख ही न पड़ेगा। यह सदा के लिये नष्ट हो जायगा, मिट जायगा। ज्ञानी अपने को आध्यात्मिक विश्वास वा प्रतीति के बल से प्रकृति के बंधन से अलग कर लेना चाहता है। यही निषेधात्मक मार्ग है जिसे "नेति नेति" कहते हैं।